उस नामका हृदयमें चिंतन । उस वर्ण-त्रयका नित स्मरण ।
करनेसे योग्यता विश्व-सृजन । आयी उसमें ॥ ३८ ॥
रचे तब ब्रह्माने जन । तथा वेद जैसे शासन ।
और यज्ञ सम वर्तन । जीवन रूप ॥ ३९ ॥
ऐसे कितने लोक फिर । सृजन किये हैं अपार ।
ब्रह्म-दत्त दे अग्रहार । बने त्रिभुवन ॥ ३४० ॥
ऐसे नाम-मंत्रसे महान । बना जो ब्रह्मदेव अर्जुन ।
उसका रूप अब तू सुन । कहता श्रीकांत ॥ ४१ ॥

ओं तत्सत्का दर्शन—

यहां सब मंत्रोंका राजा । आदि प्रणव वह दूजा ।
है तत्कार और जो है तीजा । वहां सत्कार ॥ ४२ ॥
एवं जो ओं तत्सदाकार । ब्रह्मनाम त्रि-प्रकार ।
पुष्प सुगंध सुंदर । लेते उपनिषद ॥ ४३ ॥
इनसे होकर जब एक । कर्म चलता है सात्विक ।
बन जाता है नित सेवक । मोक्ष घटमें ॥ ४४ ॥
कर्पूरके भी अलंकार । देगा यदि दैव लाकर ।
उन्हे चढाना देह पर । है कठिनाई ॥ ४५ ॥
वैसे आचरण किया सत्कर्म । उच्चारण किया ब्रह्मका नाम ।
किंतु नहीं जानता यदि मर्म । विनियोगका ॥ ४६ ॥
साधुओंका समुदाय । घर आता धनंजय ।
किंतु होगा पुण्यक्षय । अवज्ञासे ॥ ४७ ॥
अथवा करने अलंकार । स्वर्णकी पोटली बंधकर ;
गलेमें बांधली धनुर्धर । उसी भांति ॥ ४८ ॥
लेता मुखसे ब्रह्म-नाम । हाथमें हैं सात्विक कर्म ।
प्रयोगके बिन जो कर्म । होता व्यर्थ ॥ ४९ ॥
अजी ! अन्न और जो भूख । साथ रखा हुवा भी देख ।
खाना न जानता बालक । घडता उपवास ॥ ३५० ॥

या स्नेह बात इक ठौर । आने पर पांडुकुमार ।
जलाना न जाने पर । प्रकाश कैसे ? ॥ ५१ ॥
आया कृत्य समय अर्जुन । तथा मंगलका हुवा स्मरण ।
किंतु कार्य है वह अपूर्ण । बिना प्रयोगके ॥ ५२ ॥
तभी वर्ण-त्रयात्मक । पर-ब्रह्म नाम एक ।
विनियोग सुन नेक । इस समय ॥ ५३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तंते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

नामके हैं जो तीन अक्षर । कर्मके आदि मध्य नंतर ।
प्रयोग करना सविचार । यही तीन ॥ ५४ ॥

ओंका महत्व—

यही हाथ दीप लेकर । करने ब्रह्म साक्षात्कार ।
आये हैं सब धनुर्धर । ब्रह्म-ज्ञनी ॥ ५५ ॥
ब्रह्मसे होनेमें अद्वैत । यज्ञसे न होते वंचित ।
जानते शास्त्रोंको जो पार्थ । किसी समय ॥ ५६ ॥
सर्व-प्रथम वे ओंकार । ध्यानसे करते गोचर ।
फिर करते हैं उच्चार । वाणीसे भी ॥ ५७ ॥
उसके ध्यानसे प्रकट । प्रणवोच्चार होता स्पष्ट ।
तब करते हैं वे श्रेष्ठ । क्रियाचरण ॥ ५८ ॥
अंधेरेमें जैसे दीप अभंग । अरण्यमें समर्थ साथी संग ।
वैसे जानना प्रणवका योग । कार्यारंभमें ॥ ५९ ॥
धर्म-मार्गसे पाया हुवा धन । वेदोक्त देवोद्देश्यसे अर्जुन ।
यज्ञोंमें ब्राह्मणोंद्वारा अर्पण । करते हैं जो ॥ ३६० ॥

सदा प्रथम ओंकार बोल कर उपासक ।
करते हैं अनुष्ठान यज्ञ दान तपादिक ॥ २४ ॥

हवनादि जो अग्निमें । त्यागादिरूप आहुतिमें ।
यज्ञ-विविध विधानोंमें । करते निष्णात ॥ ६१ ॥

ऐसे विविध-रूप याग । निष्पन्न होकर तदंग ।
करते हैं उपाधि त्याग । जो हैं असार ॥ ६२ ॥

या न्यायसे प्राप्त पवित्र । भूमि आदि जो स्वतंत्र ।
देश-कालादि शुद्ध पात्र । देख देते दान ॥ ६३ ॥

अथवा एकांतर कृछ्रादिव्रत । चांद्रायण मासोपवास सहित ।
शोषण कर देह-धातुका नित । करते हैं तप ॥ ६४ ॥

एवं यज्ञ दान तप । प्रसिद्ध बंधन-रूप ।
बना लेते परंतप । मोक्ष-साधन ॥ ६५ ॥

स्थल पर जो है महा बोझ । नांव तैराती जलमें तुझ ।
बंधनसे मुक्त जो सहज । करता नाम वैसे ॥ ६६ ॥

ऐसे वे सब धनंजया । यज्ञादिक हैं सभी क्रिया ।
ओंकारके लेके सहाय । चलते हैं ॥ ६७ ॥

तथा होती जब फलाशा स्पर्श । तब सावध साधक सोल्हास ।
उच्चार कर तत्कार विशेष । करते अर्पण ॥ ६८ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियंते मोक्षकांक्षिभिः ॥ २५ ॥

तत्कारसे होनेवाले लाभ—

वस्तु है जो विश्वातीत । तथा जो विश्व-लक्षित ।
ऐसे तत् शब्दसे व्यक्त । होती है वर वस्तु ॥ ६९ ॥

चित्तमें सर्वादिकत्व नित । ध्यान करके तद्रूप पार्थ ।
उच्चार करके अभिव्यक्त । करते स्पष्ट ॥ ३७० ॥

तत् के स्मरणसे सारी टूटती फल-वासना ।
नाना यज्ञ तप दान करते मोक्ष साधक ॥ २५ ॥

यह हो तद्रूप ब्रह्मार्पण । न रहे यहां फल-कारण ।
भोग रूप न रहे स्मरण- । बीजका भी ॥ ७१ ॥

ऐसे तदात्मक जो ब्रह्म । साकार वहां सब कर्म ।
कह कर इदं न मम । झटक देते हैं ॥ ७२ ॥

ओंकारसे ऐसे प्रारंभ कर । तथा तत्कारमें अर्पण कर ।
कर्मको बनाया इस प्रकार । ब्रह्मकर्म ॥ ७३ ॥

हुवा वह कर्म ब्रह्मकार । इससे न होता कार्य भार ।
कर्ता कर्मका रहा विचार । भिन्नत्वका जो ॥ ७४ ॥

रूपसे लवण घुल जाता । किंतु स्वादसे जो रह जाता ।
वैसे द्वैत-भावसे रहता । कर्ता जो भिन्न ॥ ७५ ॥

रहता जब द्वैतका भान । होता भव-भयका कारण ।
ऐसे स्वमुखसे हैं श्रीकृष्ण । बोलते वेद ॥ ७६ ॥

तभी जो परत्वमें ब्रह्म रहता । उसको आत्मत्वमें जानना होता ।
सत् शब्द ऋण दोषार्थ रखता । यहां श्रीकृष्ण ॥ ७७ ॥

तो भी यहां ओंकार तत्कारमें । ब्रह्म-कर्म किया जो शरीरमें ।
वह कर्म प्रशस्तादि शब्दोंमें । किया है बखान ॥ ७८ ॥

उस प्रशस्त कर्ममें है । सत् शब्दका विनियोग है ।
वहीं जो प्रभु कहता है । सुनो अब ॥ ७९ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

सत् भावसे होनेवाले लाभ—

सत् शब्दका यहां सारांश । असत् नाश्यका हो निरास ।
दीखते हैं रूप निर्दोष । सत्ताका यहां ॥ ३८० ॥

सत्का स्मरण देता है सत्यता और साधुता ।
वैसे ही कर्म-सौंदर्य कहा सत्कारका फल ॥ २६ ॥

जिस सत्ताका रूप सतत । रहता है स्थल-कालातीत ।
तथा होता है जो अखंडित । अपने आपमें ॥ ८१ ॥
जितना जो है यह दीखता । असत् यह वह नहीं होता ।
रूप जो यह जानता पाता । उसका आश्रय ॥ ८२ ॥
इससे वह प्रशस्त कर्म । हुवा है जो सर्वात्मक ब्रह्म ।
कर देखना उससे सम । ऐक्य बोधसे ॥ ८३ ॥
ओंकार तथा जो तत्कार । दिखाता कर्म ब्रह्माकार ।
होना उसे निगलकर । केवल ब्रह्म ॥ ८४ ॥
ऐसा यह अंतरंग । सत् शब्दका विनियोग ।
कहता यह श्रीरंग । मैं नहीं कहता ॥ ८५ ॥
यदि कहता मैं, मैं यह कहता । श्रीरंगमें द्वैतकी आती हीनता ।
इसीलिये यह वचन है कहता । श्रीहरिका ही ॥ ८६ ॥

सत् शब्दका और एक अर्थ—

अब और ही एक प्रकार । सत् शब्दका सुन तू धनुर्धर ।
करता सात्विक कर्म पर । उपकार जो ॥ ८७ ॥
सत्कर्म चलते हैं सुंदर । अपने अधिकारानुसार ।
जब कोई अंग धनुर्धर । होता हीन कस ॥ ८८ ॥
एक अवयवकी दुर्बलता । शरीर व्यापारको ही रोकता ।
या किसी अंगसे है रुक जाता । रथका वेग ॥ ८९ ॥
वैसे ही एक गुणके बिन । संतमें आता असंतपन ।
तब सत्कर्म बनाता है जान । असत्कर्म ॥ ३९० ॥
तब ओंकार तथा तत्कार । करते हैं कर्मको सुंदर ।
वैसे ही उसका जीर्णोद्धार । करता सत् शब्द ॥ ९१ ॥
कर्मके असत्को यह मिटाता । उसमें सद्भाव रूढ करता ।
निज सत्वकी प्रौढ़ता बढ़ाता । यह सत् शब्द ॥ ९२ ॥
दिव्यौषधिसे रोगीको जैसे । असहायको सहायतासे ।
कर्म-व्यंगमें सत् शब्द वैसे । करता पूर्ण ॥ ९३ ॥

अथवा हो कोई प्रमाद । कर्म छोडकर मर्यादा ।
भूलसे राहपे निषिद्ध । राहपे वहां ॥ ९४ ॥

चलते हुए भी मार्ग भूलता । तज्ञोंकी दृष्टिमें वह आता ।
व्यवहारमें क्या नहीं होता । कह तू मुझे ॥ ९५ ॥

इसीलिये ऐसे जो कर्म होते । अविचारसे सीमाको लांघते ।
असाधुता दुर्नाम पहुंचते । उस समय ॥ ९६ ॥

वहां पर यह सत् शब्द । उन दोनोंसे है प्रबुद्ध ।
नियोजित साधुता-सिद्ध । उस कर्मका ॥ ९७ ॥

जैसे लोह पारसकी धृष्टि । नाला और गंगाकी भेटी ।
अथवा मृत पर हो वृष्टि । अमृतकी जैसे ॥ ९८ ॥

असाधु कर्ममें अर्जुन । सत् शब्द प्रयोग तू जान ।
रहता है जो बड़प्पन । इस शब्दका ॥ ९९ ॥

जान कर यह सब मर्म । विचार करेगा यह नाम ।
यही है केवल पर-ब्रह्म । अनुभवेगा तू ॥ ४०० ॥

यह नाम शुद्ध पर-ब्रह्म है—

देख तू यह औ' तत् सत् ऐसे । वहां पहुंचते बोलनेसे ।
सब प्रकाशता है जहांसे । दृश्य विश्व यह ॥ १ ॥

वह है पूर्ण निर्धर्म । शुद्ध ऐसा पर-ब्रह्म ।
यह अंतरंग नाम । करता व्यक्त ॥ २ ॥

आश्रय आकाशका जैसा । केवल आकाश है वैसा ।
यह नाम सबमें वैसा । है अभेद ॥ ३ ॥

आकाशमें जो उदय होता । सूर्य ही सबको प्रकाशता ।
वैसे है नाम ही प्रकाशता । नामीको यहां ॥ ४ ॥

तभी तीन अक्षरोंका नाम । नाम नहीं है केवल ब्रह्म ।
यह जान कर जो जो कर्म । किया जाता है ॥ ५ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

याग हो अथवा दान । तथा तपादि गहन ।
पूर्ण अथवा अपूर्ण । रहे वह ॥ ६ ॥

पारसकी कसौटी पर जैसे । भले बुरेकी बात न हो वैसे ।
ब्रह्ममें अर्पण करते जिसे । वह है ब्रह्म-रूप ॥ ७ ॥

नहीं रहते पूर्ण या अपूर्ण । किये जाते कर्म जो ब्रह्मार्पण ।
देखी न जाती सिंधुमें अर्जुन । जैसे नदियां ॥ ८ ॥

ऐसे पार्थ तेरे प्रति । ब्रह्म नामकी है शक्ति ।
कही है स-उपपत्ति । बुद्धिमान तू ॥ ९ ॥

तथा एकेक अक्षर । भिन्न भिन्न स्पष्ट कर ।
विनियोग धनुर्धर । कहा तुझसे ॥ ४१० ॥

अब ऐसे सु-महिम । इसीलिये है ब्रह्मनाम ।
जान लिया न यह मर्म । तूने अर्जुन ॥ ११ ॥

तभी इस पर श्रद्धा । बढ़ती रहने दो सदा ।
उसका विनियोग कदा । रुकने न देना ॥ १२ ॥

जिस कर्ममें यह प्रयोग । अनुष्ठान किया सद्विनियोग ।
वहां अनुष्ठान किया सांग । वेदविदित ॥ १३ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

तप यज्ञ तथा दान करता कर्म साधक ।
उसमें बरता जाता उसको सत् कहा गया ॥ २७ ॥

अश्रद्धासे किया कर्म यज्ञ दान तपादिक ।
असत् वह कहा जाता होता सर्वत्र निष्फल ॥ २८ ॥

श्रद्धाहीन कार्य कभी सफल नहीं होता—

अथवा नामको छोड़कर । तोडकर श्रद्धाका आधार ।
दुराग्रह बल बढ़ाकर । धनंजय ॥ १४ ॥

अश्वमेध किये अगणित । रत्नमय पृथ्वी-दान पार्थ ।
एकांगुष्ठ तप भी सतत । किया गया ॥ १५ ॥

जलाशयके नाम पर । बन गये नये सागर ।
किंतु वे सब धनुर्धर । व्यर्थ ही मान ॥ १६ ॥

पत्थर पर मेघ बरसना । या राखमें हवन किया जाना ।
या प्रेमसे आलिंगन करना । अपनी छायाका ॥ १७ ॥

या आकाशको बेंत । मारना जैसे पार्थ ।
वैसे ही सब है व्यर्थ । यह समारोह ॥ १८ ॥

कोल्हूमें कंकडका घान डाला । उससे न खली न तेल मिला ।
किंतु अपना दारिद्र्य सकल । रहा साथ ही ॥ १९ ॥

गांठमें बंधा हुवा ढेला । यहां या वहां नहीं चला ।
जिससे मर गया भला । उपवाससे ॥ ४२० ॥

वैसे कर्म जात सकल । नहीं देते हैं यहां फल ।
तब होंगे वहां विफल । कहना रहा क्या ॥ २१ ॥

ब्रह्म नामकी श्रद्धा तजकर । करनेमें ये सभी व्यवहार ।
व्यर्थ ही जान तू पांडुकुमार । केवल दिखानेके ॥ २२ ॥

जो कलुष-कुल-केसरी । त्रिताप-तिमिर-तमारी ।
वीरवर श्रीनरहरी । बोलते ऐसे ॥ २३ ॥

निजानदमें तद्रूप । हुवा तब परंतप ।
चंद्रमा जैसे तद्रूप । होता चांदनीसे ॥ २४ ॥

अजी ! यह युद्ध ऐसा देखा । वाणी तथा बाणके जो नोक ।
नापते हैं जीव सह एकेक । मांस खंड ॥ २५ ॥

इस भांति कर्कश समय । भोगता है जो स्वानंदराज्य ।
आज जो है यहां भाग्योदय । नहीं अन्यत्र ॥ २६ ॥

संजय कहता है कुरु-श्रेष्ठ । शत्रुके गुणसे होता संतुष्ट ।
यहां वह गुरु भी बना श्रेष्ठ । आत्मसुखकर ॥ २७ ॥

यदि यह प्रश्न वहीं करता । श्रीहरि ऐसे क्यों गांठ खोलता ।
तथा कैसे हमें ज्ञान मिलता । परमार्थका ॥ २८ ॥

अज्ञानके अंधेरेमें होते । जन्म मृत्युकी राह चलते ।
यहां आकर कैसे पहुंचते । आत्म प्रकाश सदनमें ॥ २९ ॥

हमें तुम्हें किया अपार । इसने यह उपकार ।
तभी हैं व्यास-सहोदर । गुरुत्वमें यह ॥ ४३० ॥

संजय कहता मनही मन । बढ गया मेरा यह कथन ।
खटकेगा धृतराष्ट्रको जान । कितना बोला मैं ॥ ३१ ॥

ऐसे अर्जुन गुण-वर्णन । छोडकर वैसे ही अपूर्ण ।
कहता पूछता क्या अर्जुन । श्रीहरिसे तब ॥ ३२ ॥

छोडकर अर्जुनका गुण-वर्णन । संजय कहता श्रीकृष्णका व्याख्यान ।
वैसेही मैं भी करूंगा सुनो व्याख्यान । ज्ञानदेव निवृत्तिका ॥ ३३ ॥

गीता श्लोक २८

ओवी ४३३

ॐ

सर्व गीतार्थ संग्रह, ईश्वर प्रसाद योग

चित्सूर्यरूपी श्रीगुरु वंदन—

जय जय देव निर्मल । निज-जनाखिल मंगल ।
जन्म-जरा-जलद-जाल । प्रभंजन ॥ १ ॥
जय जय देव प्रबल । विदलित मंगल कुल ।
निगमागमद्रुम-फल । फलप्रद ॥ २ ॥
जय जय देव सकल । विगत विषयवत्सल ।
कलितकालकौतूहल । कालातीत ॥ ३ ॥
जय जय दैव निष्कल । स्फुरदमंदानंद बहुल ।
नित्य निरस्ताखिलमल । मूलभूत ॥ ४ ॥
जय जय देव स्वप्रभ । जगंदंबुगदगर्भ नभ ।
भुवनोद्भावारंभ-स्तंभ । भवध्वंस ॥ ५ ॥
जय जय देव निश्चल । चिलित-चित-पान तुंदिल ।
जगदुन्मीलनाविरल- । केलिप्रिय ॥ ६ ॥
जय जय देव विशुद्ध । विदुदयोद्यान-द्विरद ।
शम-दम-मदन-मद-भेद । दयार्णव ॥ ७ ॥
जय जय देवैकरूप । अतिकृत-कंदर्प-सर्प-दर्प ।
भक्त-भाव-भुवन-दीप । तापावह ॥ ८ ॥
जय जय देव अद्वितीय । परिणतोपरमैकप्रिय ।
निज-जन-नित-भजनीय । मायागम्य ॥ ९ ॥

जय जय देव श्रीगुरु । अकल्पनाख्य कल्पतरु ।
स्वसंविद्रुमबीजप्ररु । भूमिरूप ॥ १० ॥

निर्विशेष तेरा स्तवन कैसे करूं ?—

यह क्या एकेक कर ऐसे । अनेक परिभाषासे कैसे ।
स्तोत्र करूं तव उद्देश्यसे । निर्विशेष ॥ ११ ॥

जिन विशेषणसे करना वर्णन । वह दृश्य-रूप तेरा न होता जान ।
लज्जित होता हूं करनेमें स्तवन । तेरा मैं श्रीगुरु ॥ १२ ॥

किंतु जो मर्यादाका सागर । ऐसी उसकी ख्याति सादर ।
किंतु न देखता सुधाकर । हुवा उदय ॥ १३ ॥

निज-निर्झरसे वह सोमकांत । चंद्रको अर्घ्य न देता यदि रात ।
तब उससे दिलाता निशा-नाथ । सुनो देव ॥ १४ ॥

न जाने कैसे वसंत आता । सहसा खिलते वृक्ष-लता ।
किंतु आप न रोक सकता । खिलता वृक्ष ॥ १५ ॥

पद्मिनी पाकर रवि-किरण । सिकुडना जानती कहां कौन ।
या जल-स्पर्श होते ही लवण । भूलता अंग ॥ १६ ॥

वैसे मैं करता तेरा स्मरण । होता मैं मेरा यह विस्मरण ।
डकार रोक न सकता जान । तृप्त जैसे ॥ १७ ॥

तूने मुझे किया ही है ऐसे । मेरा मैं-पन मिटा देनेसे ।
स्तवनार्थ पागल-पनसे । नाचती वाचा ॥ १८ ॥

अथवा मैं वैसे ही सचेतन । रहके करूंगा तेरा स्तवन ।
जिससे गुण-गुणीकी तुलना । होगी मुझसे ॥ १९ ॥

तथा तू है एकरस अखंड । कैसे करें गुण-गुणीका खंड ।
मोति भला क्या तोडकर जोड़ । या समूचा वैसेही ॥ २० ॥

और तू है माता तथा पिता । इससे स्तवन नहीं होता ।
लगती उपाधिकी भ्रष्टता । पुत्रत्वकी मात्र ॥ २१ ॥

दूसरेकी करनेसे दासता । आई हुई पराधीन श्रेष्ठता ।
उपाधि उच्छिष्टका है क्या होता । बखाननेसे ॥ २२ ॥

तब तू आत्मा एक समान । ऐसे कहनेसे भी श्रीमान ।
दृश्यादृश्यको बाहर मान । ढकेलता हुवा ॥ २३ ॥

मौन भूषणादिसे गुरु पूजन—

तभी करनेमें तेरा वर्णन । नहीं मिलता योग्य विशेषण ।
तब मौन बिन अन्य भूषण । नहीं चढाता मैं ॥ २४ ॥

स्तवन है कुछ भी न बोलना । पूजा है कुछ भी न करना ।
सन्निधिमें कुछ भी न होना । तेरे पास ॥ २५ ॥

किंतु जैसे कोई भ्रम-ग्रस्त । करता है प्रलाप बहुत ।
वैसे मैं वर्णन गुरु-मात । कहता सहले तू ॥ २६ ॥

अब दे अपना स्वाक्षर । हुवा जो गीतार्थ विस्तार ।
जिससे हो यह स्वीकार । सज्जनोंमें ॥ २७ ॥

कहते हैं श्रीनिवृत्तिनाथ यह । बार बार पूछता क्यों वह ।
कह तू पारसपे घिसते क्यों लोह । बार बार ॥ २८ ॥

ज्ञानदेव तब विनयकर । आपका प्रसाद है गुरुवर ।
सुनना जी अब चित्त देकर । ग्रंथ संवाद ॥ २९ ॥

गीत-रत्न प्रासादका कलशाध्याय—

अजी ! यह गीता-रत्न-प्रासादका । कलशही है अर्थ चिंतामणिका ।
अथवा है सभी गीता-दर्शनका । है पथ-दीप ॥ ३० ॥

लोगोंमें रही है यह मान्यता । जब दूरसे कलश दीखता ।
तब तो सहज दर्शन होता । देवताका भी ॥ ३१ ॥

अजी ! उसी भांति है यहां । एक ही अध्यायमें जहां ।
पूर्ण-दर्शन होता है यहां । गीतागमका ॥ ३२ ॥

कलश है यह इसी कारण । अध्याय यह बादरायण ।
अठारहवा जो सकारण । रचते हैं ॥ ३३ ॥

कलशके बाद कुछ भी कहीं । मंदिरका काम रहता नहीं ।
यह बात अष्टादशमें यहीं । दीखती स्पस्ट ॥ ३४ ॥

व्यास सहज सशक्त सूत्रकार । उसने निगम-रत्नाचल पर ।
उपनिषदार्थके पठार पर । किया खनन ॥ ३५ ॥

वहां जो त्रिवर्गका असार । मिला माटी कंकडादि अपार ।
उससे महा-भारत प्राकार । रचा चतुर्दिक ॥ ३६ ॥

आत्म-ज्ञानका वहां अखंड । मिला जो सुंदर शिला-खंड ।
रची पार्थ-कृष्णकी अखंड । संवाद कलाकृति ॥ ३७ ॥

निवृत्ति-सूत्रका अधिष्ठान । सर्व-शास्त्रार्थका है भरण ।
आकार लाया बादरायण । मोक्ष-रेखाका ॥ ३८ ॥

करनेमें ऐसा यह निर्माण । पंद्रह अध्यायका है सदन ।
हुए हैं पंद्रह अंतस्त मान । इस प्रासादके ॥ ३९ ॥

षड्दश अध्याय ऊपर । ग्रीवा घंटाका जो आकार ।
तथा कलश-पीठाकार । सप्तदश जो ॥ ४० ॥

उस पर यह अष्टादश । अपने आप हुवा कलश ।
ऊपर गीतादिकमें व्यास । लगाता है ध्वज ॥ ४१ ॥

पिछले सभी अध्याय । चढते भूमिका आय ।
पूर्णता दिखाते जाय । अपनेसे ॥ ४२ ॥

हुए कार्यमें रही जो अपूर्णता । कलशमें होगी वह पूर्णता ।
वैसे अष्टादश विचार कहता । साद्यंत गीताका ॥ ४३ ॥

व्यास बडा कारीगर । रचा गीताका मंदिर ।
किया महा उपकार । प्राणि मात्रका ॥ ४४ ॥

कोई है परिक्रमा जपकी । करते बाहरसे इसकी ।
कोई श्रवणार्थ हैं छायाकी । धरते अपेक्षा ॥ ४५ ॥

तथा अवधानका संपूर्ण । देकर कोई दक्षिणा-धन ।
पैठते अंतर्गृहमें तत्क्षण । अर्थ ज्ञानके ॥ ४६ ॥

फिर पाते निज-बोधसे तत्काल । आत्म-रूप हरि-दर्शनका फल ।
ऐसे मोक्ष प्रासादमें है सकल । पाते हैं प्रसाद ॥ ४७ ॥

जैसे समर्थोंका पंक्ति भोजन । देता सबको एकसा पक्वान ।
श्रवण पठन अर्थ-चिंतन । मोक्ष देता इसका ॥ ४८ ॥

गीता यह ऐसा वैष्णव-प्रासाद । अठारहवा कलश है विशद ।
मैंने कहा है जानेका यह भेद । इस स्थान पे ॥ ४९ ॥

सत्रहवे और अठारहवे अध्यायका संबंध—

समाप्त होता है सत्रहवां अध्याय । वहां होता कैसे अठारहवां उदय ।
कहूंगा यह प्रत्यक्ष-सा दृश्य । आंखमें दीखे वैसे ॥ ५० ॥

न तोडके दोनों आकार । बनाया है एक शरीर ।
है अर्धनारी नटेश्वर- । रूपमें जैसे ॥ ५१ ॥

या गंगा-यमुनाका उदक । प्रवाहमें भिन्न है जो देख ।
तथा पानी रूपसे एक । दीखता सदैव ॥ ५२ ॥

अथवा शुक्ल-पक्षमें जैसे । नाना चंद्रकला दीखती वैसे ।
पूर्णमासीका पूर्ण चंद्र जैसे । दीखता एक ॥ ५३ ॥

जैसे भिन्न होनेसे सब पद । श्लोकके होते हैं श्लोकावछेद ।
अध्यायके होते अध्याय भेद । इसी भांति ॥ ५४ ॥

किंतु कहते हैं एक ही प्रमेय । मिलकर ये अष्टादश अध्याय ।
नाना रत्नोंको पिरोती साभिप्राय । जैसे एकही डोरी ॥ ५५ ॥

अनेक मोतियां मिलकर । होता जैसा एकावली हार ।
किंतु शोभा दीखती सुंदर । एकही अखंड ॥ ५६ ॥

गिन सकते हैं वृक्षके सभी फूल । सौरभपे उंगली न पडे सरल ।
अध्यायोंमें श्लोक हैं वैसे ही अचल । जानना यहां ॥ ५७ ॥

यहां है जो सात शत श्लोक । अष्टादश अध्यायमें लेख
किंतु देव बोलता है एक । दूसरा नहीं ॥ ५८ ॥

तथा मैंने भी यह तजकर । नहीं किया है ग्रंथका विस्तार ।
यहांपे भी कहता सविस्तर । निरूपणमें एक ॥ ५९ ॥

जहां सत्रहका अध्याय । कहते अंतके समय ।
कहता देव साभिप्राय । इस प्रकार ॥ ६० ॥

ब्रह्म नाममें श्रद्धा रखकर । किये जाते जितने व्यवहार ।
होते वह सब व्यर्थ आखर । निश्चित जान ॥ ६१ ॥

सुनकर यह श्रीहरिका बोल । डुलता है मनमें पार्थ निर्मल ।
कहता कर्म-निष्ठोंका है सकल । बना निम्न रूप ॥ ६२ ॥

अज्ञानसे अंध जो कर्म-जड़ । ईशको न देख सकता मूढ़ ।
उसके नाम श्रद्धादि जो गूढ़ । जानेगा कैसे ॥ ६३ ॥

तथा रज और तमोगुण । नहीं तजता अंतःकरण ।
तब होती है जो श्रद्धा क्षीण । जुडती कैसे ब्रह्मसे ॥ ६४ ॥

फिर शस्त्र-नोकसे गले लगना । तथा खडी डोरीपे दौड़ते जाना ।
अथवा मानो नागिनसे खेलना । होंगे कम धातुक ॥ ६५ ॥

कर्म ज्ञान-फलका सुक्षेत्र कैसे होगा ? अठारहवेका सूत्र—

ऐसे कर्म अति कठिन । देते हैं पुनः पुनः जनन ।
इस भांति कुयोग-पूर्ण । होते हैं जो ॥ ६६ ॥

होता यदि कर्म सांग संपूर्ण । बनता है ज्ञानके ही समान ।
नहीं तो देता नरक महान । यही कर्म ॥ ६७ ॥

कर्ममें हैं इस प्रकार । आते हैं दोष बार बार ।
तब कहां मोक्षका द्वार । खुलेगा कर्मठको ॥ ६८ ॥

मिटाना है यदि कर्म-संग । करके उसका पूर्ण त्याग ।
स्वीकार करना जो अव्यंग । संन्यास यहां ॥ ६९ ॥

कर्म-बाधाकी जो कहीं । भयकी बातही नहीं ।
वह आत्म-ज्ञान यहीं । होता हस्तगत ॥ ७० ॥

ज्ञानका आवाहन-मंत्र । ज्ञान फलनेका सु-क्षेत्र ।
तथा ज्ञानाकर्षक-सूत्र । तंतु ही जो ॥ ७१ ॥

यह दोनों संन्यास और त्याग । आचरनेसे छूटता जग ।
तब इस बातमें हो सजग । पूछना स्पष्ट ॥ ७२ ॥

ऐसे विचार कर अर्जुन । त्याग संन्यासका पक्व ज्ञान
जान लेनेमें करता प्रश्न । इस स्थानपे ॥ ७३ ॥

उसके उत्तरमें श्रीकृष्ण । करता है जो यहां कथन ।
उससे व्यक्त हुवा संपूर्ण । अष्टादशाध्याय ॥ ७४ ॥

एवं यहां ले जन्य-जनक भाव । होता अध्यायसे अध्याय प्रसव ।
अब प्रश्न किया वह सावयव । सुनलें सब ॥ ७५ ॥

कृष्णार्जुन-प्रेमका वर्णन—

वहां जो श्रीकृष्णका कथन । समाप्त होता देख अर्जुन ।
अपने मनमें होता खिन्न । जिस समय ॥ ७६ ॥

वैसे आत्म-तत्वमें निश्चित । बन गया था उसका मत ।
श्रीहरिका न करना बात । न भाया उसे ॥ ७७ ॥

बछडा होने पर भी तृप्त । गाय रहती पास सतत ।
अनन्य प्रीतकी यह रीत । चलती आयी है ॥ ७८ ॥

बिन कारण भी उनका बोलना । देख कर भी फिर फिर देखना ।
प्रिय-वस्तुके भोगसे होता दूना । भोग-भाव ॥ ७९ ॥

ऐसी है प्रेमकी यह रीति । तथा पार्थ है उसकी पूर्ति ।
तभी करती उसकी मति । चिंता मौनकी ॥ ८० ॥

तथा है संवादके निमित्तसे । व्यवहारकी जो वस्तु है उसे ।
भोगा जाता है सहज ही जैसे । दर्पण रूप ॥ ८१ ॥
फिर जब संवाद रुकता । तब यह सुख भंग होता ।
इसको फिर कैसे सहता । अभ्यस्त इसका ॥ ८२ ॥

इसलिये वह संन्यास । पूछनेका करके मिस ।
खोलता है पर विशेष । गीता तत्वका ॥ ८३ ॥

अठारहवा अध्याय एकाध्यायी गीता है—

अठारहवा अध्याय यही नहीं । समग्र एकाध्यायी गीता है यही ।
दुहता है जब स्वयं बछडा ही । तब कैसा अकाल ॥ ८४ ॥

संवाद रुकनेका समय आया । पुनरपि गीता प्रारंभ कराया ।
गुरु-शिष्यके संवादमें अशक्य क्या । होता है कब ॥ ८५ ॥

यह सब रहने दें अब । अर्जुन पूछता सुने सब ।
कहता यह विनय अब । सुनले देव ॥ ८६ ॥

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

त्याग और संन्यासका अर्थ भिन्नत्व—

अजी ! संन्यास और त्याग । एक ही अर्थके दो अलग ।
जैसे संघात और संग । है समुदायके ॥ ८७ ॥

त्याग तथा संन्याससे । त्याग ही कहना ऐसे ।
जान लिया है मनसे । यहां मैंने ॥ ८८ ॥

इसमें है यदि अर्थ-भेद । करें देव इसको विशद ।
तब कहता वह मुकुंद । ये दोनों हैं भिन्न ॥ ८९ ॥

अर्जुनने कहा

कैसे संन्यासका तत्व तथा है त्यागका कहो।
जानना चाहता हूं मैं कह तूं भिन्न भिन्न जो ॥ १ ॥

वैसे तेरा जो चिंतन । त्याग संन्यास अर्जुन ।
एक ही ऐसा निदान । वह भी सत्य ॥ ९० ॥
इन दोनोंका एक अर्थ । त्याग कहलाता निश्चित ।
भेदका कारण जो पार्थ । रहता ही है ॥ ९१ ॥
तजना कर्मको जो मूलतः । वह है संन्यास कहलाता ।
तथा कर्म-फल जो तजता । वह है त्याग ॥ ९२ ॥
तब है कोई कर्मका फल । तजता कोई कर्म सकल ।
कहता हूँ यह मैं निर्मल । सुन तू चित्त देकर ॥ ९३ ॥
जैसे वनमें या पर्वत पर । वृक्ष उगते सहज अपार ।
वैसे उद्यान खेत धनुर्धर । नहीं उगते ॥ ९४ ॥
घास उगता यदि नहीं भी बोते । वैसे कभी धानादि नहीं उगते
उसमें प्रयत्न करने पडते । उसी भांति ॥ ९५ ॥
या अंगांग सहज होते । भूषण बनाने पडते ।
नदी नाले सहज होते । कूए नहीं ॥ ९६ ॥
वैसे जो नित्य नैमित्तिक । कर्म होते हैं स्वाभाविक ।
किंतु नहीं होते कामिक । निरिच्छासे ॥ ९७ ॥

भगवान उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः ॥ २ ॥

संन्यासकी परिभाषा काम्य-कर्मका त्याग—

कामनाओंके समुदाय । उभारते हैं धनंजय ।
अश्वमेधादि स-समय । काम्य-कर्म ॥ ९८ ॥

श्रीभगवानने कहा

त्यजना काम्य-कर्मोंको ज्ञानी संन्यास जानते ।
कहते सब कर्मोंके फलका त्याग त्याग है ॥ २ ॥

कूप सरोवर आराम । अग्रहारादि महाग्राम ।
व्रत समारोहादि कर्म । अन्य अनेक ॥ ९९ ॥

ऐसे इष्ट-पूर्तिके जो सकल । कामना होती है जिसका मूल ।
भोगना पड़ता इसका फल । बंधकर ही ॥ १०० ॥

करते हैं सब देह-धारण । भोगने पड़ते जनन-मरण ।
इसको अ-स्वीकारना अर्जुन । असंभव जैसे ॥ १ ॥

अथवा ललाट लिखित जैसे । कभी नहीं मिटाया जाता वैसे ।
तथा काला गोरापन धोनेसे । मिटता नहीं ॥ २ ॥

वैसे काम्य-कर्म फल पार्थ । भोगना पड़ता है निश्चित ।
धरना दे बैठता है नित । ऋणदाता समान ॥ ३ ॥

या कामना नहीं करते । सहज रूपमें कर्म होते ।
रणभूमिमें बाण लगते । न लड़ते भी जैसे ॥ ४ ॥

अजानपनसे गूड खाता । फिर भी वह मीठा लगता ।
राख मानकर पैर देता । जलाती आग ॥ ५ ॥

काम्य-कर्ममें जो यह एक । सामर्थ्य होता है स्वाभाविक ।
इसीलिये मुमुक्षुको देख । नहीं चाहना उसे ॥ ६ ॥

वास्तवमें पार्थ ऐसे । काम्य कर्म होता उसे ।
तज देना विष जैसे । उगलकर ॥ ७ ॥

देख कर फिर यह त्याग । संन्यास कहता है सारा जग ।
तथा देखता जो अंतरंग । सर्वदृष्टा ॥ ८ ॥

इस काम्य-कर्मको तजना । कामनाको जैसे उखाडना ।
धन-त्याग कर मिटा देना । भयको जैसे ॥ ९ ॥

नित्य-नैमित्तिक कर्मका विवेचन—

चंद्र-सूर्यके जो ग्रहण । बनाते पर्वणी अर्जुन ।
या माता-पिताका मरण । निश्चित दिवस ॥ ११० ॥

अथवा अतिथि जब आता । तब जो जो करना पडता ।
ऐसे कर्मको जानना पार्थ । नैमित्तिक कर्म ॥ ११ ॥

वर्षासे क्षुब्ध होता गगन । वसंतमें खिलता है वन ।
देहको श्रंगारता यौवन । जिस भांति ॥ १२ ॥

या सोमकांत सोम स्रवता । सूर्यसे है कमल खिलता ।
मूलमें जो था वही विकसता । जैसे यहां ॥ १३ ॥

वैसे नित्यका जो होता कर्म । वही नैमित्तिक यह नियम ।
जब वह दृढ-सा होता नाम । नैमित्तिक ॥ १४ ॥

तथा सायं प्रात और मध्यान्ह । करना होता जो प्रतिदिन ।
जैसी दृष्टि होती है लोचन-। को नहीं भारी ॥ १५ ॥

नहीं आती है जिस भांति गति । चरणोंमें वह सहज होती ।
अथवा दीपमें होती है दीप्ति । पांडुकुमार ॥ १६ ॥

बिन पुटके जैसे चंदन । सुगंध देता है निशिदिन ।
अधिकारका वैसे अर्जुन । वही है रूप ॥ १७ ॥

नित्य-कर्म ऐसे है जन । बोलते हैं वह तू जान ।
नित्य-नैमित्तिक अर्जुन । दिखाये ऐसे ॥ १८ ॥

यही है नित्य नैमित्तिक । करना है जो आवश्यक ।
इसीलिये कहते देख । निष्फल इसको ॥ १९ ॥

किंतु जैसे भोजनमें सतत । भूख मिटकर होता तृप्त ।
वैसे नित्य-नैमित्तिकका पार्थ । अंगभूत है फल ॥ १२० ॥

हीन कस सोना आगमें पड़ता । हीनता तज कर तेज चढ़ता ।
इन कर्मोंका वैसा ही फल होता । जानना यहां ॥ २१ ॥

इससे दोष सब मिटते । स्वाधिकार सतत बढ़ते ।
तथा सद्गति ओर बढ़ते । अहर्निश ॥ २२ ॥

इतना यह सब रसाल । नित्य-नैमित्तिकका है फल ।
किंतु तजते मूलका बल । वैसे तजना इसे ॥ २३ ॥

त्यागवृत्तिका रहस्य, संन्यास और त्यागका फल—

वन सारा खिल उठता । आम्र-वृक्ष भी महकता ।
न छूकर ही छोड़ जाता । वसंत जैसे ॥ २४ ॥

वैसे न कर कर्म-सीमा उल्लंघन । सदा कर नित्य-नैमित्तिकाचरण ।
तजना उसकी फल-आशा संपूर्ण । उच्छिष्ट जैसे ॥ २५ ॥

कर्म-फलका जो यही त्याग । ज्ञानियोंसे कहलाता त्याग ।
वैसे संन्यास और त्याग । कहा है तुझसे ॥ २६ ॥

जब यह संन्यास संभवता । काम्य-कर्म नहीं बांध सकता ।
निषिद्ध स्वभावसे छूट जाता । जो है निषिद्ध ॥ २७ ॥

तथा जो नित्यादिक होता । फल-त्यागसे है नाशता ।
जैसे अवयवोंका होता । सिर काटनेसे ॥ २८ ॥

फल पाकसे सस्य सूखता । वैसे सब कर्म है छूटता ।
आपसे आप खोजता आता । आत्म-ज्ञान ॥ २९ ॥

इस भांति यह दो अर्जुन । त्याग संन्यासका आचरण ।
देते हैं हृदय-सिंहासन । आत्म ज्ञानको ॥ १३० ॥

कर्म-त्यागकी यह कुशलता । छूट कर कर्मका त्याग जब होता ।
उस त्यागसे त्यागी है फंसता । जालमें अधिक ॥ ३१ ॥

नहीं करके रोगका निदान । औषध दिया विष होता जान ।
भूखके समय न खाया अन्न । न मारती क्या भूख ॥ ३२ ॥

त्याग करना जहां नहीं उचित । वहां त्याग करना अनुपयुक्त ।
तथा जिसका त्यागना है उचित । नहीं करना लोभ ॥ ३३ ॥

त्यागका यह मर्म भूलकर । बना लेते हैं त्यागका भी भार ।
नहीं देखते वहां धनुर्धर । कभी वीतराग ॥ ३४ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

फलाशा जो न छोड सकता । कर्मको वह बद्ध कहता ।
जैसे आप नम्र हो कहता । जग झगड़ालू ॥ ३५ ॥

जिव्हा-लंपट रोगी जैसे । अन्नको दोष देता वैसे ।
या कोढी चिढे मक्खियोंसे । उसी भांति ॥ ३६ ॥

जो हैं फल-काम दुर्बल । कहते हैं कर्म ही मल ।
फिर मत देते केवल । कर्म हैं त्याज्य ॥ ३७ ॥

कहता कोई यज्ञादिक । करना अति आवश्यक ।
उसके बिना न शोधक । दूसरा कुछ है ॥ ३८ ॥

यदि है चित्त-शुद्धिका मार्ग । चलना चाहे कोई सवेग ।
देता है कर्म उसमें वेग । उसे तजना वहीं ॥ ३९ ॥

यदि सुवर्णको शुद्ध करना । उसको जैसे आगमें तपाना ।
या लोह-दर्पण स्वच्छ करना । जमाना है रज ॥ १४० ॥

या कपडोंको स्वच्छ करना । ऐसी होती है मनोकामना ।
धोभीकी बट्टी गंदी करना । ऐसे होगा ॥ ४१ ॥

वैसे दुःख दायक कर्म जात । ऐसे मान उन्हे तजना नित ।
रसोईका क्लेश मान पार्थ । मिलेगा क्या अन्न ॥ ४२ ॥

सुन कर ऐसे ऐसे शब्द । कर्म-रत होते हैं सुबुद्ध ।
ऐसे त्याग विषयमें विशुद्ध । हुवा न निर्णय ॥ ४३ ॥

तभी न मिटे इसका निर्णय । त्यागके विषयमें हो निर्णय ।
ऐसे कहता हूं मैं धनंजय । ध्यानसे सुन तू ॥ ४४ ॥

छोडना कहते कोई कर्म हैं दोष रूप जो ।
न छोड कहते कोई यज्ञ दान तपादिक ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्रः त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

त्याग भी तीन प्रकारका है—

त्याग जो सो यहां अर्जुन । तीन प्रकारका है जान ।
इन प्रकारका वर्णन । कहूंगा अब ॥ ४५ ॥

त्यागके तीन प्रकार । होते हैं यदि गोचर ।
इनका इत्यर्थ सार । जान तू इतना ॥ ४६ ॥

मुझ सर्वज्ञ बुद्धिको जंचता । वह निश्चित मत मैं कहता ।
उसको जान तू पहले पार्थ । इस स्थान पे ॥ ४७ ॥

चाहता जो संसारसे छुटकार । तथा इसमें सावध धनुर्धर ।
उसके लिये हैं सब ही प्रकार । करणीय हैं ये ॥ ४८ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

आत्म-ज्ञानका निश्चय न होने तक कर्म अनिवार्य है—

जैसे यज्ञ दान तपादिक । कर्म करना है आवश्यक ।
न छोडे कभी उन्हे पथिक । डग भरना जैसे ॥ ४९ ॥

खोया हुवा जब नहीं मिलता । उसका भाग नहीं तजा जाता ।
या जब तक तृप्त नहीं होता । न छोड़ते थाली ॥ १५० ॥

तट पाने तक न तजते नांव । फलने तक केला न काटे पांडव ।
रखा हुवा मिले तब तक सदैव । रखते हैं दीप ॥ ५१ ॥

वैसे आत्म-ज्ञानका विषय । न होता जब तक निश्चय ।
न होना कर्ममें धनंजय । उदासीन ॥ ५२ ॥

तभी तू इसमें मेरा सुन निश्चित निर्णय ।
कहते जिसको त्याग वह भी तीन भांतिका ॥ ४ ॥
तप यज्ञ तथा दान अवश्य करना नित ।
होते पावन ज्ञानीको तजना न इन्हे कभी ॥ ५ ॥

सत्कर्मके तीर्थसे उज्वल होनेसे सत्व-शुद्धि होती है—

किंतु स्वाधिकारानुरूप । करना यज्ञ दान तप ।
अनुष्ठान करें आक्षेप । किये बिना ॥ ५३ ॥

चलनेमें जो वेग बढ़ता । विश्रांतिकाही कारण होता ।
वैसे कर्मातिशयमें आता । नैष्कर्म्य पास ॥ ५४ ॥

पथ्यमें जैसे नियमित । होता जाता है वैसे पार्थ ।
रोगसे हठता निश्चित । उसी प्रकार ॥ ५५ ॥

वैसे कर्म होते जो आवश्यक । करनेसे कुशलतापूर्वक ।
झड़ते हैं रज तम निरर्थक । पूर्ण-रूपसे ॥ ५६ ॥

या क्षारसे जैसे सतत । पुट देते स्वर्णको पार्थ ।
निर्मल हो जाता तुरंत । सुवर्ण जैसे ॥ ५७ ॥

वैसे निष्ठासे किया हुवा कर्म । धोता जाता है सदा रज तम ।
तथा सत्व-शुद्धिका पुण्य-धाम । दृष्टिमें आता ॥ ५८ ॥

इसीलिये जान तू पार्था । सत्व-शुद्धि जो है चाहता ।
उसको कर्म मानो तीर्थ- । समान जान ॥ ५९ ॥

तीर्थसे होता बाह्य मल-क्षालन । कर्मसे अभ्यंतर उजला जान ।
ऐसे निर्मल तीर्थ जान अर्जुन । सत्कर्मको ही ॥ १६० ॥

तृषार्तको जैसे मरु-भूमिके । अमृत-वर्षा साथ तपनेके ।
या नयनमें आ बैठे अंधेके । स्वयं भास्कर ॥ ६१ ॥

डूबनेवालेकी रक्षामें नदी आयी । गिरनेवालेके लिये धरणी आयी ।
मरनेवालेको मृत्यूने ही बढ़ायी । आयू उसकी ॥ ६२ ॥

वैसे है कर्म-बद्धता । मुमुक्षुको छुडाती पांडुसुता ।
विष जैसे रसायन बनता । उपाय बलसे ॥ ६३ ॥

वैसे कर्म-कुशलता । देती बद्धको मुक्तता ।
बद्धको छुडानेमें पार्थ । आती काम ॥ ६४ ॥

तुझे अब वह कुशलता । कहता सुंदरतासे पार्था ।
कर्मसे कर्महीं है मिटता । जिससे यहां ॥ ६५ ॥

एतन्यापि तु कर्माणि संगंत्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

कर्म-नाशकी कर्म-कुशलता—

महा यागादि सब प्रमुख । कर्म-संपन्न होते हैं नेक ।
कर्तापनकी अहंता देख । रहती नहीं ॥ ६६ ॥

जैसे जो मूल्यसे यात्रा करता । उसको यात्राका गर्व न होता ।
उसको हृदयमें नहीं होता । यात्राका आनंद ॥ ६७ ॥

अथवा जो राजाकी आज्ञासे । लड़ता रहता है राजासे ।
अभिमान नहीं होता उसे । जीतता मैं राजाको ॥ ६८ ॥

अन्योंकी सहायतासे जो तरता । उसको तरनेका गर्व न होता ।
अथवा पुरोहित न धरता । दातृत्वका गर्व ॥ ६९ ॥

वैसे कर्तृत्वका अहंकार । नहीं लेते यथा अवसर ।
कर्म-मात्र सभी धनुर्धर । करना पूर्ण ॥ १७० ॥

तथा कर्म किया अर्जुना । इससे है फलका आना ।
ऐसी अपेक्षा न धरना । मनमें कभी ॥ ७१ ॥

फलकी आशा छोड़कर । कर्म करना धनुर्धर ।
पराया बच्चा निरंतर । देखती धात्री जैसे ॥ ७२ ॥

बिना किये ही फलकी आशा । तुलसीमें पानी देते जैसा ।
वैसे ही हो फलमें निराशा । करना कर्म ॥ ७३ ॥

न करके दूधकी आशा ग्वाल । करता गांवके पशु संभाल ।
उसी भांति मान कर्मका फल । करना कर्म ॥ ७४ ॥

किंतु पुण्य-कर्म भी ये ममत्व-फल छोड़के ।
करना योग्य है मेरा जान उत्तम निर्णय ॥ ६ ॥

इस भांति कर्म - कुशलता । साधकर जो कर्म करता ।
अपने आप दर्शन पाता । सहजमें जो ॥ ७५ ॥

तभी फल आशा छोड कर । तथा तज देह अहंकार ।
कर्म करना है धनुर्धर । यह मेरा संदेश ॥ ७६ ॥

जीव जो बंधसे थका हुवा । भक्तिकी चाह करता हुआ ।
उसे मैं कहता हूं पांडव । नहीं अन्य मार्ग ॥ ७७ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

तामसिक कर्म-त्याग—

अंधारमें नहीं दीखता । इसलिये आंखें फोडता ।
वैसे कर्म - द्वेषसे करता । कर्मका त्याग ॥ ७८ ॥

उसका है जो कर्मका तजना । कहता हूं मैं तामस अर्जुना ।
आधासिसीके क्रोधसे फोड़ना । कपाल जैसे ॥ ७९ ॥

पथ है यह अति कठिण । तो भी पार करेंगे चरण ।
उन्हीका करना क्या खंडण । मार्गापराधसे ॥ १८० ॥

भूखेके सम्मुख आया आहार । उसको अति उष्ण मानकर ।
करके अनशनका विचार । उसे तजना सा ॥ ८१ ॥

वैसे कर्मका बाधक कर्म । निस्तार करना यह मर्म ।
न जानता तामस सभ्रम । मत्त होकर ॥ ८२ ॥

स्वाभाविक जो भागमें आता । उस कर्मको जो तज देता ।
ऐसे तामस त्यागसे पार्थ । रहना दूर ॥ ८३ ॥

राजस कर्म-त्याग—

अथवा स्वाधिकार जो जानता । अपना विहित कर्म सूझता ।
किंतु काया - क्लेश मान तजता । आलस्यसे जो ॥ ८४ ॥

न होता साध्य संन्यास कभी नियत कर्मका ।
करनेसे स - सम्मोह कहाता त्याग तामस ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलं लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यारंभका जो उगम । कष्टकर होता प्रथम ।
लगता ढोना भारी काम । पाथेय जैसे ॥ ८५ ॥

कडुवा लगता है नीम । कशैला हर्रा प्रथम ।
प्रारंभमें वैसे काम । लगता सदैव ॥ ८६ ॥

गायका दोष है सींग । सेवंतीका कंटकांग ।
भोजन सुख महंगा । पकानेमें ॥ ८७ ॥

होता वैसे प्रारंभमें कर्म । आरंभमें होता है विषम ।
इसीलिये करनेमें श्रम । मानता है वह ॥ ८८ ॥

आरंभता है कर्म समस्त । वैसे यह जो शास्त्र - सम्मत ।
किंतु आंच आते ही व्यथित । हो तजता सब ॥ ८९ ॥

कहता संपत्ति शरीर जैसी । मिली है अतीव भाग्यसे ऐसी ।
कर्मादिकमें यह व्यर्थ वैसी । खपाना है पाप ॥ १९० ॥

किया हुवा कर्म कभी देगा फल । किंतु मिला है यह सुंदर फल ।
इसको अभी भोगनेमें कुशल । नहीं है क्या ? ॥ ९१ ॥

इस भांति शरीर - क्लेशसे । भीत हो तजता कर्म जैसे ।
कहलाता है सुन तू इसे । राजस त्याग ॥ ९२ ॥

इसमें भी होता है कर्म - त्याग । किंतु न मिलता त्यागका योग ।
अपनेसे गिर होता है त्याग । उसी भांति ॥ ९३ ॥

अथवा प्राण गये डूबकर । "अर्धोदकमें समाधि पाकर" ।
ऐसे नहीं कहते धनुर्धर । वह दुर्मरणही ॥ ९४ ॥

ऐसे शरीरका लोभ । तजाता है कर्म जब ।
नहीं मिलता है लाभ । कर्म - त्यागका ॥ ९५ ॥

कष्ट कारण जो कर्म तजता तन चोरके ।
त्याग राजस जो व्यर्थ न देखें अपना फल ॥ ८ ॥

वास्तवमें जब अपना । ज्ञानोदय होता अर्जुन ।
जैसे उदय-काल जान । निगलता है तारे ॥ ९६ ॥
वैसे सकारण क्रिया-जात । खो जाते हैं सहजही पार्थ ।
कर्मत्याग तब लाता नित । मोक्षका फल ॥ ९७ ॥
मोक्षका फल यह अज्ञान- । त्यागको न मिलता अर्जुन ।
इसीलिये तू त्याग न मान । जो है राजस ॥ ९८ ॥
किंतु देता है कैसा त्याग । घरमें मोक्ष-फल-भाग ।
सुन अब यह प्रसंग । कहता हूं मैं ॥ ९९ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

सात्विक-त्याग—

तब स्वाधिकारानुसार । आता जो सहज होकर ।
विधि-गौरवसे आचर । भूषण मान ॥ २०० ॥
किंतु यह मैं करता हूं ऐसे । स्मरण भी तज कर मनसे ।
फलाशा तज संपूर्ण-रूपसे । करना है जो ॥ १ ॥
किंतु अवज्ञा और कामना । माताके विषयमें अर्जुन ।
करनेसे होता है पतन । हेतु जो जैसे ॥ २ ॥
सो इन दोनोंको तजना । माता मान कर भजना ।
मुख अशुद्ध सो अर्जुन । तजना क्या गाय ॥ ३ ॥
अपने प्रिय फलमें धनुर्धर । छिलका और बीज जो असार ।
इसलिये तजते क्या फल सारा । कभी कोई ॥ ४ ॥
वैसे ही है कर्तृत्वका मद । तथा कर्म-फलका आस्वाद ।
इन दोनोंका नाम है बंध । कर्मका जो ॥ ५ ॥

कर्तव्य मानके कर्म करना जो नियोजित ।
ममत्व फलको छोड़ त्याग तू मान सात्विक ॥ ९ ।

इन दोनोंके विषयोंका जब । पिता-पुत्रका संबंध-सा सब ।
कर्तव्य मान निभाते हैं तब । बद्ध न होता कर्म ॥ ६ ॥

अजी ! यह है त्याग तरुवर । मोक्ष फल देता है धनुर्धर ।
सात्विक ऐसे हैं जो मशहूर । विश्वमें सब ॥ ७ ॥

जलकर बीज जैसे । होता है निर्वंश वैसे ।
फल तज कर्म वैसे । तजा मान ॥ ८ ॥

पारसका स्पर्श जब होता । लोहका जंग मल मिटता ।
चित्तका रज-तम मिटता । सत्वसे ऐसे ॥ ९ ॥

फिर वह शुद्ध सत्व-गुण । खोलता आत्म-बोध नयन ।
मृग-जल त्रास जो अर्जुन । मिटता सांझमें जैसे ॥ २१० ॥

बुद्धि आदिके सम्मुख जैसे । रहता है विश्वाभास वैसे ।
न देख सकेंगे कोई जैसे । कभी गगन ॥ ११ ॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

समदृष्टिसे कर्म करना—

आदि यदि प्रारब्ध बलसे । शुभ अशुभ कर्म जो वैसे ।
लय होते आकाशमें जैसे । बादल सारे ॥ १२ ॥

सदा जैसे उसकी दृष्टिसे । कर्म होते ब्रह्म-रूप वैसे ।
इसी लिये है सुख-दुःखसे । होता अछूता ॥ १३ ॥

जिसे शुभ-कर्म जानता । उसको हर्षसे करता ।
जिसको अशुभ मानता । उससे नहीं द्वेष ॥ १४ ॥

इस विषयमें उसको कहीं । संदेहका कभी काम भी नहीं ।
जैसे स्वप्नका सुख दुःख नहीं । जगने पर ॥ १५ ॥

शुभ अशुभ कर्मोंसे न रखे राग-द्वेष जो ।
सत्वमें जो पगा त्यागी ज्ञानसे छेद संशय ॥ १० ॥

इस लिये कर्म और कर्ता । इस द्वैत-भावकी जो वार्ता ।
न जानता वह पांडुसुता । सात्विक त्याग ॥ १६ ॥
इस भांति वह कर्म-पार्था । तजे तो छूट जाते सर्वथा ।
अधिक बांधते है अन्यथा । तजे तो कर्म ॥ १७ ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

देह-धारीको कर्म अनिवार्य है—

वैसे ही जो पांडुकुमार । देहकी मूर्ति बनकर ।
रहता कर्मसे ऊबकर । वह है अनाडी ॥ १८ ॥
उकताकर मृत्तिकासे । रहेगा कहो घडा कैसे ।
तथा कपडा तंतुओंसे । कैसे रहे दूर ॥ १९ ॥
जैसे अग्नि अपनी उष्णता । त्यजेगा कैसे कह तू पार्थ ।
अथवा कैसे करेगी जोत । प्रकाशसे द्वेष ॥ २० ॥
द्वेष कर अपनी उग्रतासे । सुगंध लायेगा हींग कहांसे ।
अथवा द्रवत्व छोड़के कैसे । रहेगा पानी ॥ २१ ॥
वैसे लेकर शरीरका आकार । करता रहता है सभी व्यवहार ।
तब कैसे है उन्माद धनुर्धर । कर्म-त्यागका ॥ २२ ॥
अपना लगाया हुवा तिलक । पुनः पुनः पोंछते स-कौतुक ।
किंतु निकालकर क्या मस्तक । लगा सकते हैं ॥ २३ ॥
वैसे विहित जो स्वयं स्वीकृत । सहज तज सकते हैं पार्थ ।
किंतु जो देह बन आया साथ । वह कर्म तजे कैसे ॥ २४ ॥
चलता जो श्वासोच्छ्वास । नींदमें भी रात-दिवस ।
न करना सा अहर्निश । चलता कर्म ॥ २५ ॥

अशक्य देहधारीको सर्वथा कर्म छोडना ।
इसीलिये फल-त्यागी त्यागी वह कहा गया ॥ ११ ॥

इस शरीरके निमित्त । लगा जो कर्म सतत ।
तन हो जीवित या मृत । न छूटेगा कभी ॥ २६ ॥

इस कर्म-त्यागका प्रकार । एक ही है यहां धनुर्धर ।
न बनो फलाशाका आहार । कर्ममें कमी ॥ २७ ॥

कर्म-फल करो ईश्वरार्पण । तत्प्रसादसे बोध उद्दीपन ।
तब हो रज्जु-ज्ञान विलोपन । व्याल-शंका ॥ २८ ॥

इस भांति आत्म-बोधसे पार्था । अविद्या सह कर्म-नाश होता ।
तथा ऐसा त्याग जो कहलाता । कर्म-त्याग ॥ २९ ॥

तभी जो इस प्रकार त्याग करता । उसको मैं सही कर्म-त्यागी मानता ।
रोगमें मूर्छाको विश्रांति कहा जाता । वैसे हैं अन्य त्याग ॥ २३० ॥

ऐसे एक कर्ममें जो थकता । दूसरेमें जा विश्रांति खोजता ।
तथा झांपड पर जो है खाता । सोटोंकी मार ॥ ३१ ॥

रहने दे यह वाग्विस्तार । त्रिलोकमें त्यागी है धनुर्धर ।
फल-त्यागसे है निष्कृती पर । ले जाता कर्म ॥ ३२ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

वैसे तो सुन यह धनंजय । त्रिविध कर्म-फल कहा गया ।
समर्थ वही है जान निश्चिय । न छोडते फलाशा ॥ ३३ ॥

तीन प्रकारके कर्म-फल—

जन्म देकरके आप दुहिता । "इदं न मम" कह माता पिता ।
छूट जाते दान लेके फंसता । दामाद आप ॥ ३४ ॥

बोकर जैसे विषका खेत । सुखसे लाभ लेते हैं पार्थ ।
किंतु खर्च कर होते मृत । उसको खाकर ॥ ३५ ॥

तेहरा फल कर्मोंका मधुर कटु मिश्रित।
उससे मुक्त संन्यासी पाते हैं त्याग-हीन जो ॥ १२ ॥

वैसे अकर्ता मान कर्म करता । कर्ता मान जो फलाशा न धरता ।
उन दोनोंको बांध न सकता । केवल कर्म ॥ ३६ ॥

पकता पेड जो राह पर । उसके फलकी आशा कर ।
सदा कर्मका भी धनुर्धर । फल बांधता है ॥ ३७ ॥

किंतु करके फलाशा तजता । जगतके कार्यमें न घुसता ।
त्रिविध विश्व यह जो पूर्णता । कर्म फल है ॥ ३८ ॥

देव मानव और स्थावर । इसका नाम जगडंबर ।
ऐसे ही हैं ये तीन प्रकार । कर्म फलके ॥ ३९ ॥

एक है वही अनिष्ट । एक है जो केवल इष्ट ।
तथा एक है जो इष्टानिष्ट । त्रिविध ऐसे ॥ २४० ॥

किंतु बुद्धि बन विषयासक्त । स्वैराचारमें होकर अभ्यस्त ।
निषिद्ध कर्ममें होते प्रवृत्त । दुर्व्यवहारमें ॥ ४१ ॥

वहां है कृमिकीट लोष्ट । देह पाते हैं जो निकृष्ट ।
उसका नाम है अनिष्ट । कर्मका फल ॥ ४२ ॥

या स्वधर्मको मान देकर । अपने अधिकारानुसार ।
सुकृत करते धनुर्धर । वेदाज्ञासे ॥ ४३ ॥

देवोंके वे इंद्रादिक । देह पाते हैं अति नेक ।
कर्म - फल इष्टमें देख । उसकी प्रसिद्धी ॥ ४४ ॥

किंतु खटा मीठा मिलकर । होता है विशिष्ट रसांतर ।
स्वादमें दोनोंसे रुचिकर । होता भिन्न ही ॥ ४५ ॥

रेचक ही होके योग - वश । करता है स्तंबनका दोष ।
वैसे सत्यासत्य समस्त । जीतता असत्य ॥ ४६ ॥

सम - भागसे है शुभाशुभ । होके खड़ा अनुष्ठान भाग ।
उससे जो मनुष्यत्व - लाभ । मिश्र फल है ॥ ४७ ॥

इस कर्म–फलसे बद्ध और मुक्तता–

ऐसे इसके त्रिविध भागमें । कर्म-फल रचा जगतमें ।
फंसे हैं जो भोगकी आशामें । उससे वे हैं बद्ध ॥ ४८ ॥

जिव्हा-चापल्य जैसे बढ़ता । वैसे भोजन मीठा लगता ।
अंतमें जो फल निकलता । रोगसे मृत्यु ॥ ४९ ॥

चोर-मैत्री तब तक भली । जब न आती एकांत-स्थली ।
वैसे होती है वेश्या भी भली । न होता स्पर्श ॥ २५० ॥

जब तक करता कर्म शरीर । मिलता जाता सन्मान धनुर्धर ।
मृत्यु समयमें घिरते आकर । कर्मके फल ॥ ५१ ॥

समर्थ होता जो महाजन । द्वारपे बैठ ले जाता धन ।
वैसे ही कर्म-फल अर्जुन । भोगने पड़ते ॥ ५२ ॥

भुट्टेसे जैसे धान झड़ता । उसी धानसे भुट्टा लगता ।
फिर भुट्टेसे धान गिरता । उससे फिर भुट्टा ॥ ५३ ॥

वैसे जो भोगसे कर्म होता । उस कर्ममें भोग लगता ।
पैर पैरको जीतता जाता । चलनेमें जैसे ॥ ५४ ॥

नांव रुकती उतार देखकर । होता वह उसका उरला तीर ।
वैसे है कर्म-फलसे धनुर्धर । नहीं है मुक्ति ॥ ५५ ॥

साध्य-साधन प्रकार फिर । करता फल-भोग प्रसार ।
ऐसे ही उलझाता संसार । अत्यागीको ॥ ५६ ॥

चमेली पुष्पका जैसे खिलना । उसका नाम ही है सूख जाना ।
वैसे फलाशासे नहीं करना । किया है ऐसे ॥ ५७ ॥

बीजका धान्य ही जब खाया जाता । किसानीका काम ही है रुकता ।
वैसे फल-त्यागसे है मिटता । कर्मका फल ॥ ५८ ॥

तब सत्व-शुद्धिके सहायसे । गुरु-कृपामृतके तुषारोंसे ।
उतरता खिले हुए बोधसे । द्वैतदैन्य ॥ ५९ ॥

तब है जगदाभासके कारण । मिटता है त्रिविध फल स्फुरण ।
वैसे ही भोक्ता-भोग्य सहज मान । होता है अस्त ॥ २६० ॥

संन्याससे मूल अविद्या रहती ही नहीं—

सधता ज्ञान-प्रधान ऐसा । जिसका संन्यास है वीरेशा ।
फल-भोगके कष्टसे जैसा । होता है मुक्त ॥ ६१ ॥

तथा संन्यासमें है एक बात । आत्म-रूपमें दृष्टि होती रत ।
वहां कर्म दूसरा ऐसे पार्थ । दीखेगा कैसे ॥ ६२ ॥

डह जाती है सब सारी दीवार । मिटते चित्र माटीमें मिलकर ।
वैसे ही नहीं रहता है अंधार । उदय होते ही ॥ ६३ ॥

न रही रूपकी काया जब । कहांसे दीखेगी छाया तब ।
कहांसे दिखेगा प्रतिबिंब । दर्पण ही नहीं ॥ ६४ ॥

जहां नहीं निद्राको ही स्थान । आयेगा वहां कहांसे स्वप्न ।
फिर कैसे कहे कहो कौन । स्वप्न मिथ्या या सत्य ॥ ६५ ॥

उसी भांति संन्यासमें यहां । मूल अविद्या न रही जहां ।
उसका व्यापार रहा कहां । तथा करे कौन ॥ ६६ ॥

तभी इस संन्यासमें एक । कर्मकी बात कैसी है देख ।
किंतु अविद्या देहमें एक । रहती है जो ॥ ६७ ॥

कर्तृत्वके बल पर पार्थ । आत्मा होती शुभाशुभमें प्रवृत्त ।
तथा दृष्टि-भेदके स्थानपे स्थित । रहती है वह ॥ ६८ ॥

होता जैसे पूर्व पश्चिम । वैसे है आत्मा और कर्म ।
ऐसी भिन्नता है सुवर्म । जान तू यह ॥ ६९ ॥

अथवा नभ और बादल । तथा सूर्य और मृगजल ।
पृथ्वी और वायुमें निर्मल । होती है भिन्नता ॥ २७० ॥

ओढकर नदीका नीर । बैठता नदीमें पत्थर ।
उन दोनोंमें धनुर्धर । जानता तू भेद ॥ ७१ ॥

जलकुंभी होती जलके पास । किंतु जलसे भिन्न होती खास ।
कालिख रहती दीपके पास । किंतु होती क्या दीप ॥ ७२ ॥

यदि चंद्रमें होता कलंक । किंतु चंद्रसे न होता एक ।
अलग दृष्टि और आंख । अतिशय वैसे ॥ ७३ ॥

जैसे है पथ और पथिक । नदीतल और है उदक ।
दर्पण और जैसे दर्शक । भिन्न है जितने ॥ ७४ ॥

उतना ही भिन्न है मान । आत्मा और कर्म अर्जुन ।
किंतु है अज्ञान कारण । दीखता एक ॥ ७५ ॥

सूर्यसे विकास उपजता । भ्रमरसे सुगंध भोगाता ।
किंतु जलमें स्वस्थ रहता । कमल जैसे ॥ ७६ ॥

बार बार कहता हूं सुन । आत्मामें कर्म - भासका कारण ।
भिन्न ही है पांच जो अर्जुन । कारण रूप ॥ ७७ ॥

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतांते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

कर्मके जो पांचकारण । जानता होगा तू अर्जुन ।
करते हैं सांख्यकथन । मुक्त कंठसे ॥ ७८ ॥

वेद - राजाकी राजधानीमें । सांख्यवेदांतके भुवनमें ।
घोष करते उच्च स्वरमें । गूंजा करके ॥ ७९ ॥

जगतमें है कर्म--सिद्धर्थ । पांच कारण जान ये पार्थ ।
उसमें फंसना अनुचित । आत्मराजको ॥ २८० ॥

कृष्णार्जुन गुरुशिष्य प्रेमका वर्णन—

ऐसा यह शास्त्र - कथन । प्रसिद्ध है जान अर्जुन ।
मुझसे तू इसको सुन । चित्त देकर ॥ ८१ ॥

अन्योंके मुखसे सुनना । ऐसा कष्ट क्या है अर्जुन ।
चिद्रत्न मैं तेरे आधीन । रहते हुए ॥ ८२ ॥

जान तू मुझसे पार्थ प्राज्ञोंका कर्म-निर्णय ।
सीधे ही करते कर्म उसके पांच कारण ॥ १३ ॥

अजी ! सम्मुख है दर्पण । करते अपना रूप दर्शन ।
देखना क्यों दूसरोंके नयन । कह तू पार्थ ॥ ८३ ॥

भक्त जैसे जहां जब देखता । उसको वैसे वहां जो दीखता ।
ऐसा मैं जब सम्मुख रहता । तेरा खिलौना बन ॥ ८४ ॥

ऐसे भावनावेगसे जब । बोलते थे देख वहां तब ।
देहभान भूलकर सब । डुलता है अर्जुन ॥ ८५ ॥

चंद्र-किरणका जब भरमार । पडता चंद्रमणि-पहाडपर ।
पिघलके होता जैसे सरोवर । उसी भांति ॥ ८६ ॥

तब सुख तथा सुरवानुभूति । इन भावोंकी तोडकर भित्ति ।
बन गया वह अजुनाकृति । सुख केवल ॥ ८७ ॥

श्रीकृष्ण होनेसे अति समर्थ । यथावत हुवा सहज स्थित ।
तब होने सहजस्थित पार्थ । करता प्रयास ॥ ८८ ॥

व्यक्तित्व जहां अर्जुनसा । गया प्रज्ञा सह डूबसा ।
आया ऐसा महा पूरसा । आनंदका तब ॥ ८९ ॥

कहता है देव अजी हे पार्थ । पूर्ण रूपसे हो सहज-स्वस्थ ।
सांस भर डुलाता है पार्थ । अपना मस्तक ॥ २९० ॥

कहता तब जानता तू उदार । तेरे साथमें भिन्न शरीरधर ।
ऊब चुका तब एकत्वमें भर- । जाना चाहता था ॥ ९१ ॥

मेरे प्रेमसे तू ऐसा । पूर्ण करता लालसा ।
रोकती क्या जीव दशा । इस प्रकार ॥ ९२ ॥

श्रीकृष्ण हंस तब भला कहता । अबतक तू यह नहीं जानता ।
पगले ! चंद्र चंद्रिकामें भिन्नता । रहती क्या कभी ॥ ९३ ॥

तथा कहनेमें यह भाव । डर जाते हैं हम पांडव ।
मन भायेका क्रोध-भाव । बढाता है प्रेम ॥ ९४ ॥

यहां है जो परस्पर भिन्नता । तभी ऐसे जीवनकी शक्यता ।
रहने दे ऐसे ये बोल पार्था । इस विषयके ॥ ९५ ॥

अब कैसा प्रसंग चला था । क्या बोल रहे थे हम पार्था ।
सब कर्मोंकी जहां भिन्नता । आत्मामें है ॥ ९६ ॥

तब कहता हरिसे अर्जुन । कहता तू सहज मेरा मन ।
प्रारंभ किया उचित श्रीकृष्ण । मेरी समस्याका ॥ ९७ ॥

कर्म—सिद्धिके पांच कारण—

जो है सभी कर्मका बीज । कारण पंचक जो तुझ ।
'करूंगा मैं तुझसे आज' । कहा था मैंने ॥ ९८ ॥

तथा है जो कर्म कारणसे । संबंध नहीं है आत्मासे ।
कहा था अब तूने ऐसे । वह भी कहना ॥ ९९ ॥

तब विश्वेश्वर कहता । संतोष-चित्तसे हे पार्थ ।
हमसे जिद्द कर बैठता । ऐसा मिलता कौन ॥ ३०० ॥

करूंगा सरल निरूपण । कहता तब यह श्रीकृष्ण ।
किंतु चुकाना पडेगा ऋण । तुझे इस बातका ॥ १ ॥

तब अर्जुन कहता देव । भूल गया क्या पिछले भाव ।
इस बातमें रखता ठाव । मैं तू पनका ॥ २ ॥

कहता है तब श्रीकृष्ण । कहंगा अब जो वचन ।
मनोयोग पूर्वक सुन । पांडुकुमार ॥ ३ ॥

यह सच है धनुर्धर । कर्म जिस पर है स्थिर ।
वे सब आत्मासे बाहर । कारण हैं पांच ॥ ४ ॥

इन पांचोंके ही कारण । कार्यारंभ होते हैं जान ।
इससे कर्ममें है जान । हेतु भी पांच ॥ ५ ॥

यहां है आत्म-तत्व उदासीन । वह ना हेतु या न उपादान ।
न बनता है आप संवहन । कार्य-सिद्धिका ॥ ६ ॥

शुभाशुभ अंशमें वहां जैसे । उत्पन्न हो जाते हैं कर्म ऐसे ।
रात और दिवस आकाशसे । बनते रहते ॥ ७ ॥

तोय तेज तथा धूम । यहां वायूसे संगम ।
होनेसे है अभ्रागम । न जानता गमन ॥ ८ ॥

अनेक काष्ठोंसे नांव बनती । केवटसे वह चलाई जाती ।
वैसे ही वायूसे वह चलती । उदक है साक्षी ॥ ९ ॥

जैसे एक मृत्तिकाका पिंड । व्यय हो कर बनता भांड ।
जब घुमाता है एक दंड । भ्रमण चक्र ॥ ३१० ॥

यह कर्तृत्व कुलालका । वहां क्या रहा है पृथ्वीका ।
बिन आधारके किसीका । कह तू संबंध ॥ ११ ॥

सूर्य-उदयके साथ सदैव । सभी व्यापार चलते पांडव ।
इसमें सविताका क्या कर्तृत्व । रहता है कह तू ॥ १२ ॥
ऐसे पांच हेतुका मिलन । होते हैं यहां पांच कारण ।
उगती कर्म-लता अर्जुन । आत्मा स्वतंत्र ॥ १३ ॥

अब मैं वह सब भिन्न भिन्न । करता हूं पांचोंका विवेचन ।
तुला कर देख लेते हैं जान । मोतियां जैसे ॥ १४ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ॥ १४ ॥

१ कर्म-सिद्धिका कारण, देह—

ऐसे हैं ये सब लक्षण । सुन तू जो कर्म कारण ।
देह है पहला कारण । कहता हूं मैं ॥ १५ ॥

देहको कहते हैं अधिष्ठान । कहता सुन इसका कारण ।
स्व-भोग सह जीवका है स्थान । यह शरीर ॥ १६ ॥

बना कर इंद्रियोंके दस हाथ । उससे श्रमकर दिवस रात ।
प्रकृतिसे भोग पाता है पार्थ । इस स्थानपे ॥ १७ ॥

अधिष्ठान अहंकार तथा विविध साधन ।
भिन्न भिन्न क्रिया पार्थ करते दैव पांचवा ॥ १४ ॥

उसके भोगके कारण । शरीर बिन अन्य स्थान ।
नहीं होनेसे अधिष्ठान । कहते शरीरको ॥ १८ ॥

यह चौवीस ही तत्वोंका । कुटुंब गृह है बस्तीका ।
छूटना है बंध मोक्षका । उलझन यहीं ॥ १९ ॥

अथवा जो हैं अवस्थात्रय । अधिष्ठान जान धनंजय ।
इसीलिये जान यह काय । कहलाता अधिष्ठान ॥ ३२० ॥

२ कर्म–सिद्धिका कारण, कर्ता=अहंकार—

तथा कर्ता यह दूसरा । कर्म कारण धनुर्धर ।
प्रतिबिंबसा है अपार । चैतन्यका जो ॥ २१ ॥

आकाशसे बरसता है नीर । उससे जो बनता सरोवर ।
तथा बिंबित होता तदाकार । आकाश जैसे ॥ २२ ॥

अथवा राजा निद्रासे भरकर । स्वयं आप विस्मृतिमें डूबकर ।
स्वप्नमें अनुभवता धनुर्धर । दरिद्री जैसे ॥ २३ ॥

वैसे अपनेको भूलकर । चैतन्य देहाकार लेकर ।
अनुभवता है देहाकार । आत्मस्वरूप ॥ २४ ॥

ऐसे ही विचारोंके कारण । प्रसिद्ध है जीव ऐसा जान ।
बंधकर वह सह तन । संपूर्ण रूपसे ॥ २५ ॥

प्रकृति करती है जो कर्म । कहता है मैंने किया सभ्रम ।
वहां यह कर्ता ऐसा नाम । लेता है जीव ॥ २६ ॥

३ कर्म–सिद्धिका कारण, विविध साधन—

होती है जो एकही वैसी । दीखती है चोरी हुईसी ।
पलकोंमेंसे दृष्टि जैसी । चवरोंके बाल ॥ २७ ॥

यह घरमें रहता एक । दीपका वह अवलोक ।
गवाक्षोंके-भेदसे अनेक । दीखता जैसे ॥ २८ ॥

वैसे बुद्धिका जानना । श्रोत्रादि भेदसे नाना ।
बाहर इंद्रियपन । होता है व्यक्त ॥ २९ ॥

यह पृथग्विध कारण । यहां जो कर्मका कारण ।
तीसरा है जान अर्जुन । इंद्रियां जो ॥ ३३० ॥

४ कर्म-सिद्धिका कारण, भिन्न भिन्न क्रिया—

होता है जैसे एक ही नीर । पूर्व पश्चिममें बहकर ।
कहलाता है पांडुकुमार । नदी नद जैसे ॥ ३१ ॥

तथा जैसे एकही पुरुष । अनुकरणसे नव रस ।
होता जैसे नवविध भास । उसी प्रकार ॥ ३२ ॥

प्राण वायुकी अखंड क्रिया शक्ती । अन्यान्य स्थान पर जो बिखुरती ।
अन्यान्य नामसे पहचानी जाती । शतरूप लेकर ॥ ३३ ॥

जब वह वाणीमें आती । तब वाक्शक्ति कहलाती ।
जब हाथोंमें उतरती । बनती व्यापार ॥ ३४ ॥

तथा चरणोंमें आकर । वही गति कहलाकर ।
उतरती है अधोद्वार । होती क्षरण ॥ ३५ ॥

नाभिकंदसे जो हृदय । करता प्रणव उदय ।
कहलाती है धनंजय । वह प्राण ॥ ३६ ॥

फिर है ऊर्ध्वके अर्जुन । आवागमनके कारण ।
कहलाता वही उदान । उसी प्रकार ॥ ३७ ॥

अधोरंध्रसे वह बहता । अपान नामसे जाना जाता ।
वही जब व्यापक हो जाता । कहलाता व्यान ॥ ३८ ॥

खाया हुवा अन्नका रस । शरीर भरता सरस ।
नहीं छोडता है विशेष । शरीर भाग ॥ ३९ ॥

सभी व्यापार जो ऐसे । होते हैं क्रिया कर्म ऐसे ।
कहते समान ऐसे । धनुर्धर ॥ ३४० ॥

उबासी छींक डकार । ऐसे होते जो व्यापार ।
नाग कूर्मादि कूकर । भिन्न नामसे ॥ ४१ ॥

एवं वायूकी यह चेष्टा । एकही होती है सुभट ।
व्यापार भेदसे पलटा । होता है जो ॥ ४२ ॥

भिन्न भिन्न कार्यास्तव । वायुशक्ति जो पांडव ।
भिन्न होती है सदैव । कारण चौथा ॥ ४३ ॥

५ कर्म–सिद्धिका कारण, दैव—

ऋतुओंमें शरद सुंदर । शरदमें भी है सुधाकर ।
उसमें है योग धनुर्धर । पूर्णिमाका ॥ ४४ ॥

या वसंतमें भला आराम । आराममें भी प्रिय-संगम ।
उसमें भी होता आगम । उपचारोंका ॥ ४५ ॥

नाना कमलमें धनुर्धर । विकसन होता है सुंदर ।
उसमें भी होता है उभार । परागका ॥ ४६ ॥

वाचाका सौंदर्य है कवित्व । तथा कवित्वमें रसिकत्व ।
रसिकत्वमें है परतत्व । स्पर्श जैसे ॥ ४७ ॥

सभी वृत्तियोंका वैभव । बुद्धिही एक है पांडव ।
बुद्धिकी शोभा नित्य नव । सामर्थ्य इंद्रियोंका ॥ ४८ ॥

इंद्रिय मंडलका वैभव । शृंगार एक ही है पांडव ।
वह है जो अधिष्ठात्री दैव- । अनुकूलता ॥ ४९ ॥

तभी चक्षु आदि जो दस इंद्रिय । उन पर अनुग्रह धनंजय ।
सूर्यादि देवताओंका समुदाय । रहता है सदा ॥ ३५० ॥

ऐसा जो देव-वृंद अर्जुन । कहा पांचवा कर्म कारण ।
जानना यहां ऐसा श्रीकृष्ण । कहता है जो ॥ ५१ ॥

ऐसी जो सब कर्म खान । उसकी उत्पत्तिका कारण ।
बुद्धिगम्य हो ऐसा अर्जुन । कहा है यहां ॥ ५२ ॥

अब जिन हेतुके कारण । बढ़ती है जो कर्मकी खान ।
उसका सभी हेतु अर्जुन । कहूंगा मैं पांच ॥ ५३ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

विश्वमें प्रत्येक बातका उद्देश्य होता है—

आता जब जब वसंत । होता नव-पल्लवका हेत ।
नव-पल्लव पुष्प हेत । पुष्प देता है फल ॥ ५४ ॥
या वर्षाको लाते मेघ । मेघसे वृष्टि प्रसंग ।
वृष्टिसे मिलते भोग । सस्य-सुखके ॥ ५५ ॥
या सूर्य अरुणको प्रसवता । अरुणसे सूर्य उदय होता ।
सूर्यसे सब विश्व उजलता । दिवस रूप ॥ ५६ ॥
वैसे ही है हेतु जो मन । संकल्प-भावका अर्जुन ।
संकल्प है वाचाका जान । जलाता दीप ॥ ५७ ॥
फिर वह वाचाकी मशाल । दिखाती कर्म-मार्ग सकल ।
सो खोलता कर्ता टंकसाल । कर्तृत्वकी तब ॥ ५८ ॥
शरीरादि यहां समुदाय । शरीर हेतु है धनंजय ।
होता है जैसे लोहका कार्य । लोहसे ही ॥ ५९ ॥
अथवा तंतुओंका ताना जैसे । मिलकर तंतुओंके बानेसे ।
कहलाता जब कपडा ऐसे । केवल हैं तंतु ॥ ३६० ॥
वैसे ही है मानवके देहका । रचता हेतु कर्म-मनादिका ।
रत्नसे ही बनता है रत्नका । उपहार जैसे ॥ ६१ ॥
यहां जो शरीरादि कारण । हेतु कैसे होता यह ज्ञान ।
जानना चाहता तो अर्जुन । सुन तू अब ॥ ६२ ॥

कारण और हेतुके मिलनसे कर्म-निर्माण होता है—

अथवा सूर्य प्रकाशके जैसा । हेतु कारण सूर्य ही है वैसा ।
या ईखका कांड है ईख जैसा । बढनेका कारण ॥ ६३ ॥

काया वाचा मनसे जो विश्वमें करता नर ।
धर्म या अधर्मका हो उसके पांच हेतु हैं ॥ १५ ॥

वाग्देवताका अनेक वर्णन । वाचा ही करती है ऐसे जान ।
अथवा वेद ही प्रतिष्ठापन । करते वेदोंका ॥ ६४ ॥

वैसे ही कर्मका शरीरादिक । कारण जानते हैं स्वाभाविक ।
किंतु यही हेतु नहीं है चूक । इस स्थानपे ॥ ६५ ॥

तथा देहादिक जो कारण । तथा देहादि हेतु मिलन ।
होनेसे सभी कर्म निर्माण । होते उसके ॥ ६६ ॥

सब जो वह शास्त्र सम्मत । मार्ग अनुसरता है पार्थ ।
तब न्यायसे है न्यायोचित । होता है हेतु ॥ ६७ ॥

जैसे वर्षा नीरका बडा बहाव । सहज शालि-खेतमें जाता पांडव ।
सोखकर होता है वह अतीव । लाभ दायक ॥ ६८ ॥

या निकला रोषसे अकस्मात । द्वारकाकी राहपे चला पार्थ ।
चलना उसका न होता पार्थ । थकने पर भी ॥ ६९ ॥

होनेसे हेतु कारण मिलन । होता जहां अंधा कर्म उत्पन्न ।
उसे मिले शास्त्रोचित नयन । होता है न्याय ॥ ३७० ॥

दूधमें आया बडा उफान । तथा वह गिर गया जान ।
उसे यज्ञ कहना अर्जुन । नहीं उचित ॥ ७१ ॥

वैसे शास्त्र-सम्मतिके बिन । किया हुवा नहीं अकारण ।
तब चुराया हुवा जो धन । दानमें गया क्या ॥ ७२ ॥

बावन वर्णपर कौन । मंत्र है कह तू अर्जुन ।
नहीं उच्चारता बावन । वर्णको कौन यहां ॥ ७३ ॥

किंतु मंत्रकी कुशलता । जब तक नहीं जानता ।
उच्चार फल नहीं पाता । उसी प्रकार ॥ ७४ ॥

कारण हेतु योगसे । होता जो अचानकसे ।
शास्त्रकी सो कसौटीसे । नहीं उतरता ॥ ७५ ॥

तबभी सब कर्म होता ही है । किंतु वह होना योग्य नहीं है ।
वह जो अन्याय ही अन्याय है । ऐसाही मानना ॥ ७६ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मनं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

आत्मा कभी कर्ता नहीं होता—

एवं कर्मके हैं पांच कारण । वैसेही पांच हेतु है अर्जुन ।
उसमें कहां आत्माका दर्शन । होता है तुझको ॥ ७७ ॥

नहीं होता सूर्य जैसे रूप अर्जुन । चक्षुरूपसे कराता प्रकाशमान ।
वैसे ही आत्मा नहीं होता कर्म जान । कराता वह प्रकट ॥ ७८ ॥

दर्पणमें जो है जैसे देखता । दर्पण औ' प्रतिबिंब न होता ।
किंतु इनको है प्रकाश देता । देखकर जो ॥ ७९ ॥

अथवा अहोरात्र सविता । न होके करता पांडुसुता ।
वैसे आत्मा नहीं कर्म कर्ता । किंतु दिखाता है ॥ ३८० ॥

किंतु देहाहंकारके भ्रमसे । बुद्धिके देह ही मैं माननेसे ।
आत्म-विषयमें उसको जैसे । हुई मध्य रात्री ॥ ८१ ॥

जिसने चैतन्य ईश्वर ब्रह्म । किया हो देह ही सीमा परम ।
उसको आत्मा कर्ता ऐसा भ्रम । होता निश्चित ॥ ८२ ॥

किंतु आत्मा ही है कर्म-कर्ता । ऐसा भी निश्चय नहीं होता ।
शरीर ही मैं हूं कर्म-कर्ता । मानता सत्य ॥ ८३ ॥

आत्मा ही मैं कर्मातीत । सर्व कर्म साक्षीभूत ।
यह जो यथार्थ बात । न सुने कानसे ॥ ८४ ॥

इसीलिये अमाप आत्माको जहां । देहमें ही सीमित करता यहां ।
उलूक रातकोही दिवस जहां । मानता है वैसे ॥ ८५ ॥

जिसने आकाशका कहीं । सच्चा सूर्य देखा ही नहीं ।
वह गढेके बिंबकोही । मानके सूर्य ॥ ८६ ॥

वहां जो शुद्ध आत्माको कर्ता मान बसा हुवा ।
संस्कार हीन जो मूढ न जाने तत्त्व दुर्मति ॥ १६ ॥

डबरेका उत्पन्न होना । सूर्यकी उत्पत्ती मानना ।
उसके नाशमें नाशना । कांपनेसे कंप ॥ ८७ ॥

अजी ! सोता जब नहीं जगता । तब स्वप्नको ही सत्य जानता ।
रज्जू न जान सांपसे डरता । इसमें क्या विस्मय ॥ ८८ ॥

जब है आंखोंमें ही कामला । तब चंद्र भी दीखता पीला ।
मृग भी नहीं क्या मृगजल । देख भ्रमते हैं ॥ ८९ ॥

शास्त्र या गुरुका नाम धनुर्धर । रखता है गांवकी सीमाके पार ।
लेकर वह मूर्खताका ही आधार । जीता रहता है ॥ ३९० ॥

उस देहाभ्र-दृष्टिके कारण । आत्मापे पड़ता देहावरण ।
अभ्रवेग चंद्रमें आरोपण । करते हैं जैसे ॥ ९१ ॥

फिर इस मान्यताके कारण । देहकी बंदिशालामें अर्जुन ।
कर्मकी वज्रगांठमें बंधन । भोगता आप ॥ ९२ ॥

सुग्गा जैसे नलिका पर । आप बंधित मानकर ।
वस्तुतः स्वतंत्र होकर । फंसता है जैसे ॥ ९३ ॥

वैसे ही आत्म-स्वरूपपर । प्रकृति-गुणोंको थोप कर ।
कल्पकोटि तक धनुर्धर । कर्ममें फंसता ॥ ९४ ॥

किंतु जो कर्ममें रहता । कर्म उसको नहीं छूता ।
वडवानल जैसे होता । समुद्रोदकमें ॥ ९५ ॥

ऐसे जो कर्ममें भी अलिप्त । रहता कर्म कर सतत ।
जानना उसको कैसे पार्थ । कहता हूं अब ॥ ९६ ॥

करनेसे मुक्तका विचार । खुलता अपना मुक्ति-द्वार ।
दीप-प्रकाशमें देखकर । पाते वस्तु जैसे ॥ ९७ ॥

जैसे जैसे पोंछते हैं दर्पण । अपना आपको होता दर्शन ।
या पानीमें मिलकर लवण । होता पानी जैसे ॥ ९८ ॥

देखता है जब उलटकर । प्रतिबिंब बिंबको धनुर्धर ।
तब देखता सब मिटकर । रहता बिंब मात्र ॥ ९९ ॥

वैसे खोया हुवा आप यदि पाना । संत जनोंमें ही वह देख लेना ।
इसीलिये है सुनना और गाना । संतोंका चरित्र ॥ ४०० ॥
वैसे कर्ममें भी रहके कर्ममें । लिप्त नहीं होता सब विषयमें ।
रहती जैसे चर्म-चक्षु चाममें । अलिप्त दृष्टि ॥ १ ॥
इस प्रकार जो मुक्त है । उसका रूप दिखाना है ।
हाथ उठाके कहना है । उपपत्तिको ॥ २ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमान् लोकान्न हंति न निबद्धते ॥ १७ ॥

अविद्या-निद्रामें डूब कर । विश्व-स्वप्नका जो व्यवहार ।
भोगता था प्रबुद्ध धनुर्धर । अनादि जो ॥ ३ ॥
महावाक्यसे तब पुकारकर । गुरु अनुग्रहके सामर्थ्यपर ।
जगाते हाथ रख मस्तक पर । या थपकाते ॥ ४ ॥

आत्मानुभवीका अनहंकारी देह भाव—

तभी विश्व-स्वप्नकी माया । नींद छोडके धनंजया ।
सहसा जगा जो अद्वय । आनंदमें ही ॥ ५ ॥
मृगजलके तब पूर । दीखते थे जो निरंतर ।
खो जाते जैसे चंद्रकर । फैलते ही ॥ ६ ॥
या बालत्व जब बीतता । हौवा कभी नहीं डराता ।
या स्वयंपाक नहीं बनता । आग बुझने पर ॥ ७ ॥
अथवा जगने पर जैसे । सपना नहीं दीखता वैसे ।
न होती अहं ममता उसे । पांडुकुमार ॥ ८ ॥
देखनेके लिये मानो अंधार । घुसता सुरंगमें भी भास्कर ।
फिर भी न दीखता वहां पर । अंधार उसको ॥ ९ ॥

नहीं जिसे अहंभाव बुद्धिमें लिप्तता नहीं ।
मारके विश्वको सारे न मारता न बंधता ॥ १७ ॥

वैसे जो आत्मत्वसे भरित । देखता जो कुछ भी समस्त ।
द्रष्टा-दृश्यत्व परिवर्तित । होता अपनेमें ॥ ४१० ॥

लगती जिसको आग । अग्नि ही बनता अंग ।
दाह्य दाहक विभाग । रहता नहीं ॥ ११ ॥

वैसे ही जो कर्म है भिन्न । लाता आत्मापे कर्तापन ।
जाता है आभास-बंधन । तब जो रहता ॥ १२ ॥

इस आत्म-स्थितिका जो राव । जाने क्या फिर देहका ठाव ।
प्रलयांबुधि पूर पांडव । मानता क्या ओघ ॥ १३ ॥

वैसे ही संपूर्ण अहंता । शरीर कैसे लपेटता ।
सूर्य-प्रभा होगी क्या सीमित । सूर्य विंबमें ॥ १४ ॥

मथकर निकाला जो नवनीत । फिर छासमें डाला तो पार्थ ।
रहता है जिस भांति अलिप्त । उसी प्रकार ॥ १५ ॥

जैसे जो अग्नि काष्ठमें रहता । जब वह काष्ठसे भिन्न होता ।
फिर क्या काष्ठ-पेटीमें रहता । सिकुड करके ॥ १६ ॥

या जो रात्रीके गर्भसे । निकला भास्कर जैसे ।
बात वह सुने कैसे । रातकी कभी ॥ १७ ॥

तथा जो ज्ञाता ज्ञेयपन । निगल बैठा है अर्जुन ।
उसे देहाहंताका भान । होगा कैसे ॥ १८ ॥

जहां कहींसे गगन । भर रहा है संपूर्ण ।
भर रहना लक्षण । सहज उसका ॥ १९ ॥

ऐसा वह जो करता । वह सब जो स्वयं होता ।
फिर कौन उसे लोपता । कर्तापनसे ॥ ४२० ॥

देहाहंकार आत्म-बोधमें विलय होनेके बाद—

न रहता आकाश विन ठाव । उसी भांति सागरको प्रवाह ।
तथा ध्रुवका उठना पांडव । रहता कहां ॥ २१ ॥

उसका देहाहंकारका भाव । बोधमें विलय हुवा पांडव ।
फिर भी जो शरीरका स्वभाव । होते हैं कर्म ॥ २२ ॥

चलकर रुकता यदि चंड मारुत । फिर भी वृक्षोंमें रहता कंप भारत ।
तथा संदूकमें होता कर्पूर समाप्त । किंतु रहती सुगंध ॥ २३ ॥

हो जाता है संगीतका कार्यक्रम । किंतु चित्तपे रहता परिणाम ।
बहाव बह जाता है किंतु नम । रहता है भूमिका ॥ २४ ॥

अस्त होने पर भी सूर्यका । रहती है संध्याकी भूमिका ।
तथा ज्योति दीप्ति सकौतुक । दीखती है ॥ २५ ॥

लक्ष-भेद होने पर । दौडता रहता तीर ।
जब तक धनुर्धर । रहती शक्ति ॥ २६ ॥

चक्र पर मटका बन जाता । कुम्हार उसको उठा भी लेता ।
किंतु चक्र जो फिरता रहता । पहली गतिसे ॥ २७ ॥

वैसे ही देहाभिमान मिट जाता । जिस स्वभावसे है देह बनता ।
वही है देहको चेष्टित करता । अपने आप ॥ २८ ॥

संकल्प बिन जैसे स्वप्न दीखता । वनमें न लगता वृक्ष उगता ।
अथवा गंधर्व-नगर बनता । बनाये बिना ही ॥ २९ ॥

वैसे आत्माके उद्यम बिन । देहादि जो है पांच कारण ।
अपने आपही है अर्जुन । करते हैं कर्म ॥ ४३० ॥

विदेहावस्थामें किये गये मुक्त-कर्म—

रहते हैं जो प्राचीन संस्कार । पांच कारण हेतु धनुर्धर ।
कराते कर्म अनेक प्रकार । शरीरादिसे ॥ ३१ ॥

उन कर्ममेंसे फिर । होता है विश्व-संहार ।
या नव-विश्व सुंदर । होता सृजन ॥ ३२ ॥

किंतु कुमुद जैसे सूखता । या कमल कैसे विकसता ।
यह दोनों रवि न देखता । उसी प्रकार ॥ ३३ ॥

या वज्र प्रहार कर गगन । टुकडे करे भूतल अर्जुन ।
या मेघ-वर्षासे नंदनवन । बनाये यह भूमि ॥ ३४ ॥

किंतु इन दोनोंको जैसे । न जानता आकाश वैसे ।
देहमें रहती है वैसे । विदेह दृष्टि ॥ ३५ ॥

देहादिमें चेष्टा न करता । या विश्व बनता या टूटता ।
यह भी वह नहीं देखता । जैसे जगता स्वप्न ॥ ३६ ॥

किंतु जो चर्म-चक्षु देखते । तथा देह-भावसे हैं देखते ।
वे कर्म करता ऐसे कहते । तथा मानते ऐसे ॥ ३७ ॥

या घाससे बिजूखा बनाते । किसान खेती पर रखते ।
उसे सस्य-रक्षक जानते । पंछी सियार ॥ ३८ ॥

पागल पहना हुवा या नंगा । जैसे दूसरा ही कोई देखेगा ।
युद्धमें वीरके घाव गिनेगा । दूसरा कोई ॥ ३९ ॥

अथवा महासतीके भोग । देखता रहता सदा जग ।
किंतु आगमें जलना अंग । न देखता कोई ॥ ४४० ॥

अजी ! स्वस्वरूपमें जो जागृत । दृश्य सह दृष्टा हुवा है अस्त ।
वह जाने क्या इंद्रियोंकी बात । क्या करते वह ॥ ४१ ॥

बडे कल्लोलमें जब छोटा कल्लोल । समेटते तब किनारेके सकल ।
मनमें मानते यदि गया निगल । बडा छोटेको ॥ ४२ ॥

किंतु पानीकी दृष्टिसे देख वहां । कौन निगलेगा किसको औ' कहां ।
वैसे पूर्णको अन्य नहीं है जहां । वह मारेगा ॥ ४३ ॥

जैसे सुवर्णकी ही दुर्गा । तथा सुवर्णका ही खड्ग ।
उससे जो है नाश होगा । सुवर्ण महिष ॥ ४४ ॥

पूजारीकी दृष्टिसे व्यवहार । यह सब सही है धनुर्धर ।
किंतु खड्ग दुर्गा महिषासुर । तीनो हैं सुवर्ण ॥ ४५ ॥

जैसे चित्रका पानी हुताश । दृष्टि मात्रका यह आभास ।
चित्रमें आग या आर्द्र अंश । नहीं दोनों ही ॥ ४६ ॥

मुक्तात्माका शरीर वैसा । चलता है संस्कारवश ।
देखके लोक भ्रमवश । कहते हैं कर्ता ॥ ४७ ॥
तथा उसके करनेसे पार्थ । होता यदि तीनों लोकका घात ।
किंतु उसने किया ऐसी बात । कहना नहीं ॥ ४८ ॥

ज्ञानीकी बुद्धि द्वंद्वातीत होती है—

न देख कर सूर्यने कभी अंधार । नाश किया कहना कैसे धनुर्धर ।
जब ज्ञानियोंको नहीं कुछ दुसरा । कहेगा क्या ॥ ४९ ॥
इसीलिये ज्ञानीकी जो बुद्धि । न जाने पाप पुण्य अशुद्धि ।
मिलकर जैसे गंगा नदी । न रहता दोष ॥ ४५० ॥
आगका आगसे स्पर्श होकर । कौन जलेगा कहो धनुर्धर ।
अपने आपको है हथियार । चुभेगा क्या ॥ ५१ ॥
वैसे जो अपनेसे कुछ भिन्न । न मानता कर्म मात्र अर्जुन ।
नहीं होगी उसकी बुद्धि जान । लिप्त कभी किसीसे ॥ ५२ ॥
इसीलिये कार्य कर्ता क्रिया । अपना रूप जिसका भया ।
नहीं देहादिक धनंजया । न रहा कर्म-बंध ॥ ५३ ॥
स्वकर्तृत्वसे जीव कारीगर । पांच ही खाने सब खोद कर ।
दशेंद्रियोंसे करता तैयार । कर्म-मात्र ॥ ५४ ॥
वहां विधि तथा निषेध । साधके आकार द्विविध ।
कर्म-रचनामें विविध । न खोता क्षण भी ॥ ५५ ॥
इतना बडा यह कार्य । न होता आत्माका सहाय ।
प्रारंभमें भी धनंजय । न छूता वह ॥ ५६ ॥
केवल साक्षीभूत चिद्रूप । कर्म-प्रवृत्तिका जो संकल्प ।
उठता उसे प्रेरणा आप । नहीं देता ॥ ५७ ॥
कर्म-प्रवृत्तिका जो भार । न होता वह धनुर्धर ।
उस प्रवृत्तिका जो भार । उठाते अन्य ॥ ५८ ॥
तभी आत्माका जो केवल । रूप ही हुवा है निखिल ।
उसको नहीं बंदिशाल । कर्मकी कमी ॥ ५९ ॥